मा. स. गोळवलकर "श्री गुरुजी"

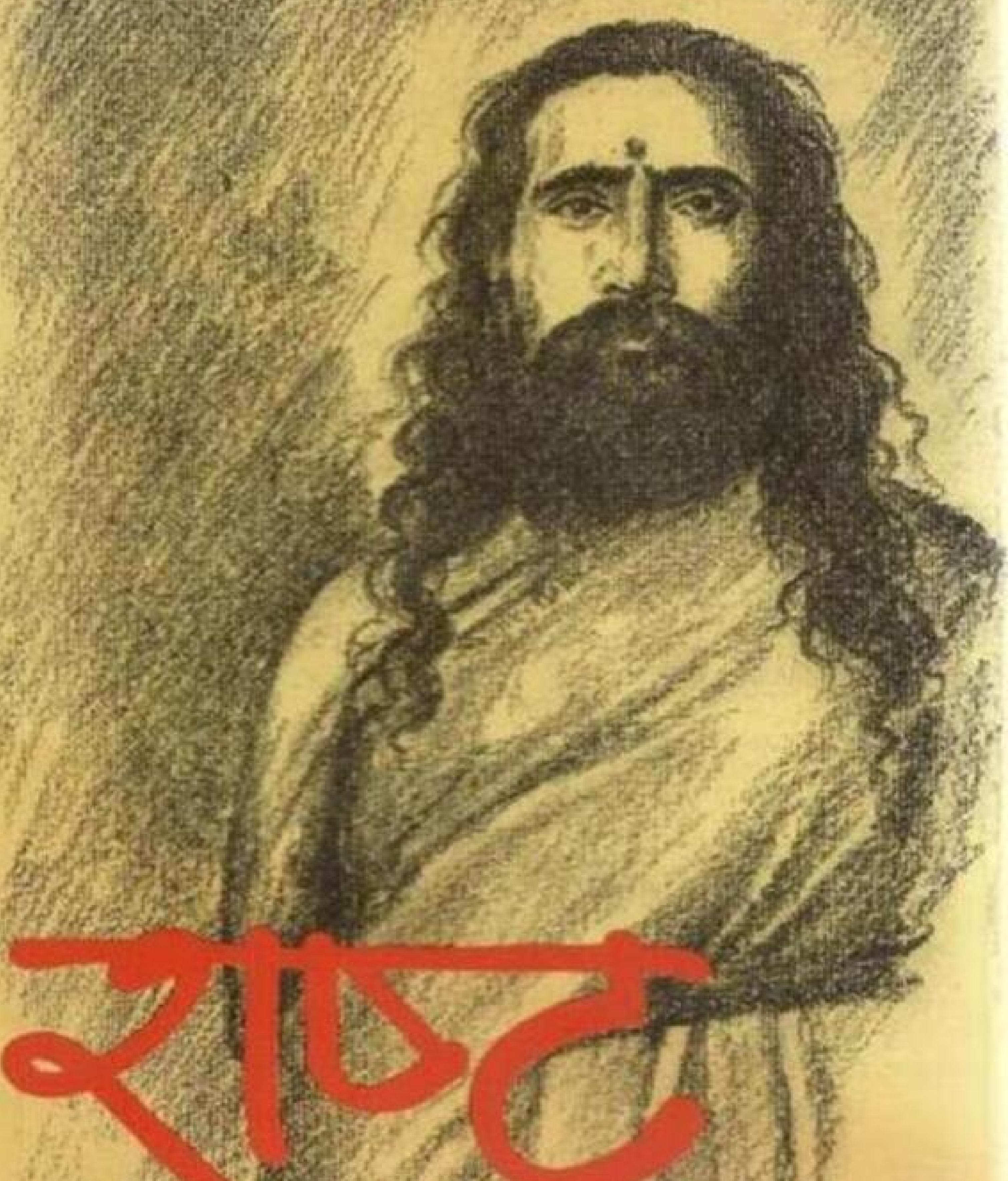

राष्ट्र

पुण्याहवाचन :

दत्तोपंत ठेंगडी

राष्ट्र

मा.स. गोलवलकर 'श्री गुरुजी'

राष्ट्र

भानुप्रताप शुक्ल

संकलन

डा. गौरीनाथ रस्तोगी

प्रकाशक

जानकी-प्रकाशन नई दिल्ली

प्रकाशन

रामदास पांडे

जानकी प्रकाशन

१२९ -साउथ एवेन्यू नई दिल्ली- ११००११

वितरक :

भारतीय मजदूर संघ

"रामनरेश भवन"

तिलक गली, चूना मण्डी

पहाड़ गंज, नई दिल्ली- ११००५५

द्वितीय संस्करण

मकर संक्रान्ति

पौ. शु. नवमी

वि० स० २०४८ १४ जनवरी, १९९२

मूल्य : ८०/- रुपये

मुद्रकः

सिया राम प्रिंटर्स

१५६२, मेन बाजार पहाड़ गंज नई दिल्ली - ११००५५

राष्ट्रायस्वाहा। इदं राष्ट्राय इदं न मम्

वंदनीय "ताईजी" (श्री गुरूजी की माता श्री)

के

श्री चरणों में समर्पित

"न मातु: परदैवतम्"

समर्पण

क्या है राष्ट्र?

किसे कहते हैं राष्ट्र?

कैसे बनता है राष्ट्र?

किसका होता है राष्ट्र?

कौन होते हैं राष्ट्र-जन?

भारत राष्ट्र है कि नहीं है?

यदि भारत राष्ट्र है तो यहां के "राष्ट्र-जन" कौन हैं?

यहां की संस्कृति की संज्ञा क्या है?

किस जनसमूह के तप-त्याग, श्रम-साधना, किन लोगों की प्रज्ञा-प्रेरणा, अनुभूतियों और आकांक्षाओं, किन लोगों की सामूहिक विकास प्रक्रिया भारत में राष्ट्र बनी है?

किस जनसमूह का समान सुख-दुख बोध, समान शत्रु-मित्र भाव, जय-पराजय के प्रति समान दृष्टिकोण, अपनी भूमि और उसके प्रति जुड़ी एकान्तिक निष्ठाएं राष्ट्र के रूप में पहचानी जाती है या पहचानी जानी चाहिए?

ये प्रश्न-बाण उनके तरकस से निकलते और भारत की छाती बेधते आ रहे हैं जो राष्ट्र के नाते अभी-अभी जन्मे है और जिनकी आँख खुली तो देखा कि भारत नाम का एक ऐसा राष्ट्र इस भूगोल पर पहले से ही विद्यमान है, जिसकी यात्रा की आयु का पता नहीं है, जो .'सभवत:' सृष्टि के साथ-साथ जन्मा और जीता चला आ रहा है। यह देख-जानकर वे हतप्रभ हो गए। अपने नवजात होने की उनकी कुण्ठा ने भारत की पुरातनता पर कुठाराघात करके स्वयं को महिमण्डित करने का उपाय अपनाया। ये समस्त प्रश्न इसी चिन्तन-प्रक्रिया के परिणाम हैं।

ये ही लोग बार-बार हम से - हम भारत के लोगों से - जवाब तलब करते हैं कि क्या प्रमाण है कि भारत एक राष्ट्र है? कैसे कहते हो कि भारत का हिन्दू समाज, उसका इतिहास, उसकी परम्परा, उसकी संस्कृति, उसकी आशा-आकांक्षाएं, उसी के प्रेरणापुरुष, उसी की प्रज्ञा, उसी का वागंमय भारत का राष्ट्रीय समाज, भारत का

इतिहास, भारत की परम्परा, भारत की संस्कृति, भारत की आशा-आकांक्षा, भारत के प्रेरणापुरुष, भारत की प्रज्ञा और भारत का वागंमय है?

वे यह प्रश्न भी करते हैं कि अंग्रेजों के आने के पूर्व भारत कभी एक राजनीतिक ईकाई रहा ही नहीं तो वह एक राष्ट्र हो कैसे सकता है? भारत के राष्ट्र बनाने की प्रक्रिया और उसको एक राष्ट्र की अनुभूति अभी एक-दो शताब्दी पूर्व की बात है अर्थात् पश्चिम के नवजात राष्ट्रों के जन्म के बाद भारत राष्ट्र की कल्पना से अवगत हुआ और क्योंकि उन सभी का जन्म राजनीति की कोख से हुआ है इसलिए उनकी यह मान्यता है कि भारत राष्ट्र का जन्म भी राजनीति की ही कोख से होना चाहिए। क्योंकि उनकी संस्कृतियां भिन्न-भिन्न हैं इसलिए भारत का भी बहुसांस्कृतिक होना अनिवार्य है। क्योंकि उनकी विकास-यात्रा के साथ भारत की विकास-यात्रा मेल नहीं खाती इसलिए भारत राष्ट्र हो ही नहीं सकता।

ये सभी देश अपनी नवजातता के साथ भारत के अति प्राचीन अतीत, उसकी सनातनता, उसके अज्ञात और विकसति स्वरूप की तुलना करते हैं तो कुण्ठित हो जाते है। अपनी इसी कुण्ठा में से स्वयं को प्राचीन और भारत को आधा-अधूरा अधकचरा नवीन राष्ट्र सिद्ध करने के प्रयत्न ने जन्म लिया। अपने इसी प्रयास में भारत राष्ट्र की आयु कम करते-करते ये लोग पांच हजार वर्ष पर ठहर गए हैं और अपनी आयु दो हजार वर्ष की भी सिद्ध नहीं कर पा रहे हैं। पश्चिमी देशों की नई पीढ़ी अपने प्रौढ़ों से यह प्रश्न पूछती घूम रही है कि उन्हें यह बताया जाय कि ईसा मसीह के पूर्व हम क्या थे? ईसा के पूर्व हमारे प्रेरणा-पुरुष और पूर्वज कौन थे? हम अपनी मजहबी और सांस्कृतिक यात्रा का आरंभ बिन्दु किसे मानें? हमारी सभ्यता की यात्रा कहां से, कब और कैसे प्रारम्भ हुई थी? भारत को राष्ट्र की परिभाषा बताने और उसके अभी राष्ट्र न होने का अभियान चलाने वाले लोग अपने ही बच्चों के प्रश्नों का उत्तर नहीं दे पा रहे है। उत्तर देना तो दूर की बात है, उन्हें बहला पाना भी उनके लिए संभव नहीं हो पा रहा है।

भारत-भूमि पर हिन्दू जीवनधारा ही राष्ट्र है इस यथार्थ को झुठलाने में आत्मविस्मृति और हमारी हीनभावना भी सहायक बनी। इसी कारण हम उपरोक्त प्रश्नों के चक्रव्यूह का भेदन नहीं कर पा रहे हैं। और जब अपने ही लोग ये प्रश्न लेकर सामने खड़े हो जाते है तो आमआदमी के लिए हतप्रभ हो जाना अवश्यम्भावी हो जाता है।

 अपने देश में इस आत्मनाशी आत्मविस्मृति को दूर करने के कुछ कम प्रयास नहीं हुए। भारत में जागरण, पुर्नजागरण और नवजागरण अभियान एवं अनुष्ठान की एक सतत् परम्परा है। नवजात पश्चिमी राष्ट्रों के प्रेरणा-पुरुषों के जन्म से शताब्दियों पूर्व का हमारा इतिहास इस की साक्षी है। मैं श्री राम, श्री कृष्ण, रामायण-महाभारत, वेदों, उपनिषदों और पुराणों की बात नहीं करता किन्तु वर्द्धमान महावीर, सिद्धार्थ गौतम बुद्ध, चाणक्य, जगद्गुरु शंकराचार्य से लेकर चैतन्य महाप्रभु, रामकृष्ण परमहंस, नारायण गुरु, नरसी मेहता, महात्मा फूले, दयानन्द, विवेकानन्द, श्री अरविन्द, लोकमान्यतिलक, महात्मा गांधी, स्वातंज्यवीर सावरकर, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के संस्थापक डाक्टर हेडगेवार और -श्री माधवराव सदाशिव गोलवलकर '.श्री गुरुजी, तक चली आई नवजागरण की यह परम्पराधारा आज भी. सतत् बह रही है। भारत की इसी राष्ट्रीय धारा के विरुद्ध खड़े है वे सभी देश और लोग जो अपनी विवशता के कारण भारत की भूमि पर हिन्दू के नाम से रह रहे राष्ट्र और उसके राष्ट्रीय यथार्थ को पचा नहीं पा रहे हैं।

यह बुद्धि-युद्ध ये लोग जिस भूमि पर खड़े होकर लड़ते हैं, उस भूमि का यथार्थ समझे बिना इनकी कुटिलता का पता चल पाना सर्वथा असंभव है। इनके शब्दकोश में राष्ट्र की दो परिभाषाएं हैं, एक अपने लिए, दूसरा भारत, केवल भारत, के लिए। अतएव यह आवश्यक है इन लोगों से इनकी ही भूमि पर खड़े होकर बात की जाए।

'राष्ट्र ' नामक इस संकलन के दो भाग हैं-एक भाग है भारत राष्ट्र के हिन्दू यथार्थ का और दूसरा भाग है विश्व के राष्ट्रों के यथार्थ का। .श्री गुरुजी ने भारत राष्ट्र के हिन्दू यथार्थ का ऐतिहासिक और सांस्कृतिक तथ्यों का आधुनिकतम और वैज्ञानिक विश्लेषण किया है तो श्री दत्तोपंत ठेंगड़ी ने विश्व की विभिन्न परम्पराओं वाले 'राष्ट्रों' का यथार्थ उल्लेख किया है। श्री गुरुजी ने सहज भाव से हिन्दू राष्ट्र का सत्यापन किया है तो 'श्री ठेंगड़ी जी ने उन बुद्धिजीवियों, जिन्हें वे बुद्धि के ठेकेदार कहते हैं, को ध्यान में रखकर राष्ट्र के सत्यासत्य का निरुपण किया है जो भारत की भूमि पर हिन्दू राष्ट्र के सत्य को स्वीकार करने से स्पष्ट इंकार करते हैं। श्री गुरुजी के विचार सामान्य रूप से प्रत्येक सामान्य और विशिष्ट व्यक्ति को अपने राष्ट्र-सत्य से जोड़ते हैं तो -श्री ठेंगड़ी जी का विश्लेषण उन सभी के लिए एक चुनौती भरा आमंत्रण है, जो भारत के राष्ट्र-सत्य को नकार कर यह

कहा करते हैं कि, "भारत न कभी राष्ट्र था, और न आज राष्ट्र है। वह अभी राष्ट्र बनने की प्रक्रिया में से गुजर रहा है, राष्ट्र के रूप में उसे अभी जन्म लेना है।"

श्री गुरुजी तैंतीस वर्ष तक हिन्दुस्तान की सतत् परिक्रमा करते रहे। मातृभूमि के अखण्ड आराधक के रूप में भारत भूमि पर हजारों वर्ष से स्थित हिन्दूराष्ट्र की गौरव गरिमा से देश और विदेश को भी अवगत कराते रहे। वे भारतमाता के साथ रक्त-मांस की तरह एकात्म थे। मातृ- वेदना की उन्हें सहज अनुभूति होती थी। राष्ट्र का भविष्य वे सहज भाव से देख लेते थे। उन्हें राष्ट्र की सम्यक धारणा थी। राष्ट्र की सम्यक धारणा होने के कारण ही वे हर परिस्थिति और घटना का शाश्वत समाधान खोज लेते थे। पंजाब में भाषा आन्दोलन के समय 'पंजाब की भाषा पंजाबी कहना, संयुक्त महाराष्ट्र आन्दोलन के चरम समय पर भाषाई राज्य निर्माण करने को अनुचित बताना, इसके कारण विभाजक प्रवृत्तियों को बढ़ावा मिलने की चेतावनी देना, तिब्बत पर चीनी आक्रमण और उसके बाद भारत पर चीन के आक्रमण की संभावनाओं के प्रति सर्व प्रथम सचेत करना, नेपाल में सत्ता परिवर्तन की संभावनाओं के प्रति आगाह करना, पूर्वी पाकिस्तान, (अब बंगलादेश) के घुसपैठियों के कारण गंभीर समस्याए उत्पन्न होने का संकेत देना, विदेशी

ऋण के विषय में १९६५ में ही भारत की आर्थिक आत्मनिर्भरता तोड़ कर उसे आर्थिक गुलामी में जकड़ने की विश्व बैंक की साजिशों को देख लेना, राष्ट्र की उनकी सम्यक् धारणा का ही सहज परिणाम था। भारतमाता की अक्षत गोद में अक्षय और परमवैभवशाली इतिहास सिद्ध हिन्दू राष्ट्र का सत्य जिन असंदिग्ध शब्दों में उन्होंने देशवासियों और विश्व के समक्ष परिभाषित और प्रस्तुत किया है वह भारत की राष्ट्रीय परम्परा एवं राष्ट्र की वैज्ञानिक व्याख्या के सर्वथा अनुरूप

'श्री गुरुजी की हिन्दू-राष्ट्र निष्ठा असंदिग्ध और उनका आचरण अतीव निर्मल था। भारत में हिन्दू राष्ट्र के यथार्थ के विषय की तरह ही उनके अमल- धवल व्यक्तित्व के विषय में भी भ्रम छाया रहा। यह भ्रम यथार्थ के कारण नहीं, अप्रचार के कारण था। विलम्ब से ही सही किन्तु इसका खुलासा किया है निष्ठावान कम्युनिष्ट बुद्धिजीवी और पश्चिम बंगाल सरकार के पूर्व वित्तमंत्री डा. अशोक मित्र ने कलकत्ता से प्रकाशित दैनिक 'आजकल के ९ जून १९९१ के अंक में उन्होंने "गाय की कहानी-गुरु की कहानी' शीर्षक से एक लेख लिखा। इस लेख में गोहत्याबंदी आन्दोलन का उल्लेख किया गया है। ७ नवम्बर,

१९६६ को संसद मार्ग पर हुए गोभक्तों के हत्याकाण्ड में बाद सरकार ने एक समिति का गठन किया था। इस समिति में पुरी के जगद्‌गुरु शंकराचार्य, डा० श्यामा प्रसाद मुखर्जी के जेष्ठ भ्राता न्यायमूर्ति रमा प्रसाद मुखर्जी और श्री गुरुजी को विशेष रूप से शामिल किया गया था। यह उल्लेख करते हुए डा, अशोक मित्र ने अपने उपरोक्त लेख में लिखा है 'हमें सबसे अधिक आश्चर्य में डाला श्री गुरु जी ने।..... उनकी उग्रता के विषय में बहुत सुना था। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के वे प्रतिष्ठा-पुरुष एक साथ ही अंधभक्ति तथा गंभीर आतंक के भी केन्द्र बिन्दु थे। किन्तु मेरी सभी धारणाए गलत निकलीं। मैने पाया कि श्री गुरुजी आवश्यकता से अधिक कभी नहीं बोलते थे। किन्तु आवश्यकतानुसार अत्यन्त विनत और आग्रहपूर्वक बोलते थे। यदि किसी के विचार और अभिव्यक्ति उन्हें पसंद नहीं होती थी तो भी उसके प्रति उनके व्यवहार में कोई अंतर नहीं पड़ता था। वे भारतवर्ष की प्राय: राभी भाषाएं जानते थे। मेरे साथ वे बंगला भाषा में बोलना पसन्द करते थे। उनके विषय में मेरी धारणा 'विषवत् ' थी; किन्तु उनकी विनम्रता और सौजन्यता ने मेरी सभी पूर्वधारणाओं को संदेह में डाल दिया। उक्त समिति की बैठक में भाग लेने वे जितनी बार आए मुझे कभी उग्र दिखाई नहीं दिए। उनका आचरण पुरी के जगदगुरु के आचरण के ठीक विपरीत था। इसे स्वीकार कार में मुझे कोई हिचक नहीं है कि उनके (श्री गुरु जी) व्यवहार ने मुझे मुग्ध कर लिया था। तब संभवत: मुझे यह कल्पना नहीं थी कि उनसे मुझे अभी और भी मोहित होना पड़ेगा।

उपरोक्त समिति के भंग होने के लगभग एक वर्ष बाद एक संध्या समय नई दिल्ली रेलवे स्टेशन दक्षिण एक्सप्रेस या किसी अन्य ट्रेन द्वारा मैं संभवत: भोपाल जा रहा था। दो शायिकाओ वाले कुपे की एक शायिका पर मैं बैठा था। थोड़ी ही देर में दूसरी शायिका के यात्री आए। वे कोई और नहीं अपितु स्वयं श्रीगुरु जी थे। उन्हें संभवत: झांसी जाना था। मुझे देखते ही उन्होने अंक मे भर दिया। मेरे स्वास्थ्य के विषय में पूछताछ किया। समिति तथा देश की विभिन्न समस्याओं के विषय में कुछ चर्चा की। वे अत्यन्त नम्रता के प्रतीक थे। मैं आयु में उनसे छोटा था। एक ज्येष्ठ भ्राता से जो स्नेह मिल सकता है, मेरे प्रति उनका व्यवहार उससे भी अधिक स्नेहपूर्ण था।

गाड़ी चल पड़ी। धीरे-धीरे बाहर का अंधकार बढ़ने लगा था। बात बन्द हो गई थी। कुछ समय बाद अपने ब्रीफ केस से एक पत्रिका निकालकर मैं पढ़ने लगा। मॅन देखा श्री

गुरुजी भी एक पुस्तक निकाल कर पढ़ने लगे थे। यह मेरे और भी आश्चर्य चकित होने का समय था। सनातनधर्म के उग्र ध्वजाधारी राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के प्रधान पुरुष के संबंध में मेरी धारणा थी कि वे कोई धार्मिक पुस्तक या हिन्दू दर्शन के विषय में कोई जटिल ग्रंथ पड़ रहे होंगे। किन्तु मेरे आश्चर्य का कोई ठिकाना नहीं रहा जब मैने देखा कि उनके हाथ की पुस्तक अमरीका के हेनरी मिलर का हाल ही में प्रकाशित उपन्यास था।

बस! शेष स्वयं समझ लें। सत्य छिपाने से क्या लाभ? उस समय श्री गुरुजी के प्रति मेरी श्रद्धा और अधिक बढ़ गई।"

डा. अशोक मित्र का अनुभव श्री गुरुजी के विचार और व्यक्तित्व का स्वयं में एक स्पष्ट आलेख है। इस विषय पर किसी प्रकार की टिप्पणी या इसका भाष्य करने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

अतएव यदि यह कहूं कि श्री गुरुजी का जीवन-सत्य भारत-भूमि पर हिन्दू राष्ट्र का ही सत्य है या हिन्दू राष्ट्र का इतिहास सत्य ही श्री गुरुजी के विचारों और आचरण में अभिव्यक्त हुआ है, तो यह किसी भी मापदण्ड से अत्युक्ति नहीं होगा।

यह संकलन हिन्दू-राष्ट्र के उपासकों और समर्थकों सहित इसके विरोधियों और इसके प्रति विपरीत धारणा रखने वालों को भी अतीत श्रद्धापूर्वक समर्पित है। इस अपेक्षा के साथ कि वे सभी इसे अपनाएंगे और केवल राष्ट्र के ही नहीं, हिन्दू राष्ट्र के सत्य को भी समझने का प्रमाणिक प्रयास करेंगे।

एक निवेदन और। श्री गुरुजी के शब्द-शब्द मंत्र सदृश्य है, प्रेरक उर्जा हैं। उनके शब्दों के अभिव्यक्त-रूप को स्वाभाविक लय में यथावत रखा गया है। विभिन्न प्रसंगों में विषय प्रतिपादन के उद्देश्य से कुछ पुनरावृत्तियां मिल सकती हैं। पाठक मानकीय भाषा के स्थान पर उसकी मौलिकता का रस लेंगे। श्री दत्तोपंत ठेंगडी लिखित पुण्याहवाचन की भाषिक स्वाभाविकता के लिए भी संपादन की यही दृष्टि रखी गई है।

दुर्गा अष्टमी, संवत २०४८
१६ अक्तूबर, १९९१
नई दिल्ली

पुण्याहवाचन

भद्रं इच्छन्त ऋषय: स्वर्विद:

तपो दीक्षां उपसेदु: अग्रे।

ततो रास्ते बल ओजश्च जातम्।

तदस्मै देवा उपसं नमन्तु।। (अथर्व ११/४१/१

“आत्मज्ञानी ऋषियों ने जगत का कल्याण करने की इच्छा से सृष्टि के प्रारंभ में जो दीक्षा लेकर तप किया, उससे राष्ट्रनिर्माण हुआ, राष्ट्रीय बल और ओज भी प्रकट हुआ। इसलिए सब विबुध इस राष्ट्र के सामने नम्र होकर इसकी सेवा करें।“

यह संकलन है,

परमपूजनीय श्री गुरुजी के विचारों का।

वणर्य विषय है "राष्ट-संकल्पना'।

“वाचम् अर्थोऽनुधावति" जिनका यह अधिकार।

उनकी जीवन साधना का अधिष्ठान यह वर्ण्य विषय।

इस संकलन पर भाष्य करने का प्रयास

अर्थात् धृष्टता की, अहंकार की परिसीमा।

वह यहां अभिप्रेत नहीं है।

किन्तु

इन विचारों का अध्ययन

किन परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में

हम करने जा रहे हैं

यह जान लेने की आवश्यकता है।

उसी का यह संक्षिप्त विवरण है।

यही है पुण्याहवाचन।

भारतीय शब्दों का अंग्रेजी में या अंग्रेजी शब्दों का भारतीय भाषाओं में भाषांतर करते समय अनुवादको ने-जानबूझकर हो या अनवधान से, कुछ गंभीर गलतियां की। शास्त्रीय चर्चा में प्रयुक्त होने वाले हर शब्द का गठन ऐतिहासिक विकास की पृष्ठभूमि के फलस्वरूप होता है। बोलचाल की भाषा में कभी-कभी ऐसे शब्दों का प्रयोग शिथिलता पूर्वक हो जाता है। यदि यह शिथिलता सर्वसाधारण व्यक्ति की बात-चीत में सामान्य लोकव्यवहार के दौरान आ गई तो वह क्षम्य भी माना जाता है। किन्तु शास्त्रार्थ के समय या शास्त्रज्ञ लोगों की सामान्य बातचीत में यह शिथिलता क्षम्य नहीं है।

यूरोप के लोग जब भारत आए उस समय यूरोप की जो अवस्था थी उसी के प्रकाश और प्रभाव में उन्होंने हिन्दुस्थान को समझने का प्रयास किया। यह स्वाभाविक ही था। यूरोप में प्रचलित शब्द उनकी ऐतिहासिक विकास क्रम की देन थी। जबकि भारत का ऐतिहासिक विकास क्रम यूरोप से बिल्कुल भिन्न रहा है। यहां की शब्दावली यहां के ऐतिहासिक विकास क्रम की पृष्ठभूमि से विकसित हुई। नए आए हुए यूरोपीय प्रवासियों के लिए इस पृष्ठभूमि को सहसा समझ पाना संभव नहीं था। फिर वे, साहसी पर्यटक थे, भाषाविद् साहित्यिक नहीं। उंन्होंने अपनी-अपनी मानसिक पृष्ठभूमि के सहारे भारतीय समाज तथा भारतीय संकल्पनाओं को समझने का प्रयास किया। कोई भी भारतीय संकल्पना ऊपरीतौर पर उनकी किसी सुपरिचित यूरोपीय संकल्पना से सादृश्य रखने वाली दिखाई दी तो स्वाभाविक रूप से उनकी ऐसी धारणा बनी कि ये दोनों संकल्पनाएं एकरूप हैं और उसके परिणामस्वरूप भाषांतर की गलतियां होना भी स्वाभाविक था। ये गलतियां उन्होंने प्रामाणिकतापूर्वक की। बाद में मेकाले की नीति के अंतर्गत भारत की जनता को गुमराह, आत्मविस्मृत तथा आत्मग्लानियुक्त करने के हेतु जो प्रयास हुए उसका एक अंग गलत भाषांतर का प्रचलन भी रहा। यह पूर्णरूपेण अप्रामाणिक तथा दुष्टहेतुपूर्वक हुआ। इस बात ने मेकाले को बहुत -श्रेय प्रदान किया। स्पष्ट है कि अपने देश इंग्लैण्ड के प्रति उनकी भक्ति असंदिग्ध थी।

मेकाले ने अपने देश के साम्राज्य की सत्ता की नींव भारत में मजबूत करने के लिए दूरदर्शितापूर्वक अपनी नीति विकसित की थी। उसका यह "देशभक्ति" प्रेरित प्रयास

उसके देश की दृष्टि से अभिनन्दनीय ही था। किन्तु आश्चर्यजनक तथा लज्जास्पद बात यह रही कि हमारे आग्ल-विद्याविभूषित भारतीय विद्वानों ने मेकाले का मानसपुत्र बनकर उसके-द्वारा कही गई हर बात, उसकेद्वारा किए हुए गलत भाषांतरों को भी, अंधश्रद्धापूर्वक स्वीकारकिया। उदाहरणार्थ इन विहानों में यह समझने की बौद्धिक क्षमता थी कि “धर्म” की संकल्पना भिन्न है और रेलिजन Religion (पंथ) की संकल्पना से उसका कोई मेल नहीं है, तो भी उन्होंने स्वीकार कर लिया कि “धर्म” अर्थात्-रिलीजन-और रिलीजन अर्थात “धर्म” है। इस कारण देश में कितनी भ्रांत धारणाए किस प्रकार फैली हम यह जानते हैं। ऐसा ही कई और शब्दों के बारे में भी हुआ। राष्ट्र और नेशन (Nation) के विषय में भी यही स्थिति है। इस पृष्ठभूमि के कारण आज कल कहीं भी शास्त्रीय चर्चा चलती है तो प्रारंभ में ही निम्न तीन उद्धरण देना अपरिहार्य हो जाता है :

'The letter killeth' - ईसा मसीह।

“एक शब्द: सम्यक् ज्ञात: सम्प्रयुक्त: लोके स्वर्गे च कामधुक् भवति ' (पंतजलि)

'If you want to talk with me, define your terms, - वाल्तेयर

सर्वसाधारण जनमानस का अब तक का अभ्यास ध्यान में रखकर इस प्रास्ताविक में भी कई जगह “राष्ट्र " और नेशन को पर्यायवाची या समानार्थी के रूप में प्रयोग में लाने की अशास्त्रीयता जानबूझकर की गई है। शास्त्रीय संज्ञाओं का इस तरह का गलत प्रयोग करना यद्यपि जनसाधारण के समझने की क्षमता के साथ अशास्त्रीय समझौता ही है, फिर भी कभी- कभी विवश होकर यह करना पड़ता है। इस विवशता की कारण मीमांसा अपने Nationality in History and Politics ब्रिटिश समाजशास्त्रज्ञ Fredrick Hertz निम्न प्रकार करते हैं:-

"The diversity of usage is often rooted in the antagonism of ideologies or interests, and frequently it is due to a lack of critical sense. Even careful writers are often compelled to use inaccurate terms because the public has become so used to employ the same word for different things that it would resent the introduction of new terms merely for the sake of scientific

accuracy. Anyhow, the lack of a clear and stable terminology greatly contributes to the confusion of ideas."

"The Sentiments of Nationalism" में Max-Sylvie's Hand man तो यहां तक कहते हैं कि "It is a good idea to have a sort of Nicene council on the terminology used in connection with the social science"

हमारे देश में हजारों जातियां है। इन दिनों उनमें एक नई जाति की वृद्धि (Addition) हुई है। यह नई जाति है बुद्धिजीवियों (Intellectuals) की। इन लोगों को बुद्धिजीवी (Intellectual) होने का प्रमाण पत्र किसने दिया, देश की संपूर्ण बौद्धिकता का एकाधिकार इन्हें किस प्रक्रिया से प्राप्त हुआ इसकी जानकारी किसी को नहीं है। किन्तु यह सच है कि इन बुद्धिजीवियों (Intellectuals) ने यह मान लिया है कि देश में उपलब्ध बुद्धिमानी पर पूरी तरह से इनकी जाति का ही स्वामित्व है और इस जाति के बाहर विद्वत्ता का अकाल व्याप्त है।

इस जाति में कुछ लोग ऐसे भी हैं जो प्रामाणिक है। जिनका प्रयास सत्य की खोज करने का ही रहता है और अन्वेषण के पश्चात् उनको यदि ऐसा प्रतीत हुआ कि नए तथ्य के प्रकाश में उनकी कुछ धारणाएं गलत है तो उस बात को मान लेने, अपनी गलत धारणाओं का त्याग करने और नई धारणाओं को स्वीकार करने में उन्हें संकोच नहीं होता। क्योंकि वे सत्य के पुजारी होते हैं; अतएव पूर्वग्रहदोष से मुक्त हुआ करते हैं। किन्तु ऐसे प्रामाणिक विचार वालों को अधिक प्रसिद्धि नहीं मिलती। इसका कारण यह है कि प्रचार के माध्यम जिनके नियंत्रण में हैं, प्रसिद्धि प्राप्त करने के लिए उनके निहित स्वार्थ से मेलखाने वाले निष्कर्ष प्रकाशित करने की चतुराई इन प्रामाणिक विचारवानों के पास नहीं है।

बुद्धिजीवियों की इस नई जाति में अधिकतर संख्या चतुर लोगों की है। उनकी रुचि वास्तविक सत्य में नहीं है। चतुर होने के कारण वे पहले ही भांप लेते हैं कि प्रचार-माध्यमों के मालिको के निहित स्वार्थी के साथ मेल खाने वाला निष्कर्ष निकालने तथा प्रकाशित करने से अपना व्यक्तिगत निहित स्वार्थ भी सिद्ध हो सकता है। इन अप्रामाणिक विचारवानों के पास इसकी ठीक जानकारी रहती है कि रोटी की किस ओर मक्खन लगा हुआ है और यह बात वे पहले से ही तय करके रखते हैं कि तदनुकूल

निष्कर्ष ही निकालना है। अब प्रश्न इतना ही रहता है कि इस तरह के उपलब्ध तथ्यों की रचना किस तरह की जाए कि निष्कर्ष वे ही निकल सकें। इस कला में ये 'विचारवंत' लोग निष्णात बन चुके है। क्योंकि यह कला ही उनका पेशा, उनकी उपजीविका का साधन तथा प्रसिद्धि एवं प्रतिष्ठा का आधार है। इस तरह की विचार-प्रक्रिया को अंग्रेजी में Hypothetical (हायपोथेटिकल) संज्ञा प्रदान की गई है।

व्यवहार चुतर लोगों के विषय में ही यह कहा गया है कि-

"अर्थातुराणां न पिता न बन्धुः।

उपरिनिर्दिष्ट अप्रामाणिक विचारवंत लोग इसी श्रेणी में आते हैं। यह संकलन इन 'विचारवतों' के लिए नहीं है। स्वकेन्द्रित होने के कारण इनकी अवस्था "ब्रह्मा अपि नरं न रंजयति" जैसी है। उनके बारे में सम्पादक की भूमिका "तान्प्रतिनैष यत्न" की है। अपने व्यक्तिगत सुविधा को ही अग्रक्रम देने वाले बुद्धि के ये ठेकेदार सत्य को समय का सेवक बनाना चाहते हैं; किन्तु इस संकलन के सम्पादक जैसे लोगों की धारण यह है कि "समय को सत्य का सेवक बनाना चाहिए।"

इस प्रकार के इने-गिने महानुभावों को छोड़कर "राष्ट्र-संकल्पना" समझने की इच्छा रखने वाले शेष सभी प्रामाणिक जिज्ञासु इस संकलन से लाभान्वित होंगे। वे इस ग्रह को पूर्वग्रह विरहित मन से पढ़ें, इस पर स्वयं अपनी-अपनी बुद्धि से चिन्तन करें और इस विषय में स्वयं अपने-अपने निष्कर्ष निकालें, यह स्वस्थ प्रणाली ही सम्पादक और संकलन कर्त्ता को अभिप्रेत है।

"राष्ट्र-संकल्पना" विषयक सत्य की खोज करने की प्रक्रिया में यह ग्रंथ सहायक हो, इतनी ही अपेक्षा है। किन्तु ग्रंथ का पठन, उस पर मनन और सत्यान्वेषण करते हुए अपनी बुद्धि से निष्कर्ष निकालने का काम हर एक जिज्ञासु को स्वयं करना चाहिए। प्रगतिशीलता के नाम पर पाश्चात्य विचारको के निष्कर्ष जैसे के वैसे ग्रहण करना मेकाले के आधुनिक मानसपुत्रों की प्रवृत्ति है। यह "बाबावाक्यम् प्रमाणम्" प्रवृत्ति श्री गुरुजी को स्वीकार नहीं थी; फिर वह "बाबा" चाहे पश्चिम का हो या पूर्व का। श्री गुरुजी स्वतंत्र प्रशा के पक्षधर थे। दिनांक ३०/१०/१९७२ को ठाणावर्ग में अपने भाषण का प्रारंभ करते समय उन्होंने कहा, "मैं जो कहता हूं उसे मानना ही चाहिए, यह आवश्यक नहीं

है। मेरा विचार है, इसलिए इसको माननें का कोई कारण नहीं। मैं जो कहता हूं उस पर आप लोगों को विश्ववास करने की कोई आवश्यकता नहीं। आप अपना स्वतंत्र विचार करें। मैं जो कुछ बोलता हूं उसके विरुद्ध विचार कैसे करना, इस प्रकार को संकोच मन में रखने की कोई आवश्यकता नहीं है। अपने "ध्येयदर्शन" भाषण में श्री गुरुजी कहते हैं" .... इति डार्विन, इति हक सूले, इति मार्क्स, इति शंकराचार्य, इति श्रुति, ऐसा कुछ भी कहना मेरी दृष्टि से ठीक नहीं है। जिस जीवित जागृत सत्य का मुझे प्रत्यक्ष अनुभव होता है, उसी पर मैं विश्वास करता हूं।" भगवान बुद्ध का अंतिम संदेश था "आत्मदीपो भव"। श्री गुरुजी के उपर्युक्त कथन का भी यही अभिप्राय है। "राष्ट्र-संकल्पना" के सभी जिज्ञासुओं के विषय में भी श्री गुरुजी की यही अपेक्षा थी।

नेशन और नेशनलिज्म

जहां नेशन या नेशनलिज्म से संबंधित प्रश्न उपस्थित होता है वहां सभी की दृष्टि संयुक्त राष्ट्र संघ (युनाईटेड नेशन्स आर्गनाईजेशन) पर जाती है। इस संगठन ने नेशन की जो कल्पना प्रस्तुत की है वह शास्त्र शुद्ध तथा वास्तविकता पर आधारित है क्या, इस पर विचार करने के कष्ट कोई नहीं उठाता। उनकी कार्यन्वयन क्षमता के विषय में तो सब जानते हैं, किन्तु सम्पूर्ण जगत की देखभाल करने का दावा करने वाला यह संगठन क्या "नेशन" की परिभाषा ठीक ढंग से कर सका है? इस पर विचार करने की आवश्यकता है।

लीग ऑफ नेशन्स ने राज्य (State) और राष्ट्र (Nation) को पर्यायवाची (Synonymous) माना था। इस गलती के दुष्परिणामों के विषय में भारतीय चिन्तकों ने उस समय भी चेतावनी दी थी। प्रेसिडेंट विल्सन ने विभिन्न मित्र सत्ताओं की बात मानकर जो गलतियां की उनमें यह गलती प्रमुख थी कि उसके फलस्वरूप "अल्पसंख्यकों" का प्रश्न उठा, जिसकी परिणति द्वितीय महायुद्ध में हुई। आज का यू. एन. ओ. इस तरह की गलती से अछूता है क्या। या वह भी अपनी सदस्यता देते समय लीग ऑफ नेशनस के समान राज्य (State) और राष्ट्र (नेशन) को पर्यायवाची (Synonymous) मानता है। अभी-अभी कुर्द लोगों की जो समस्या सामने आई है वह इस दृष्टि से विचारणीय है। ईराक, ईरान, सीरिया और तुर्की में बसे हुए कुर्द लोगों की संख्या लगभग दो करोड़ है। आज वे विभिन्न राज्यों (States) में बंटे हुए हैं।

सैद्धांतिकरूप से तो इनका अपना पृथक राष्ट्र-राज्य (Nation-state) बनना चाहिए था। उनकी आज की स्थिति प्रथम महायुद्ध के पश्चात् के चेकोस्लोव्हाकिया का स्मरण दिलाती है।

लीग ऑफ नेशन्स की दृष्टि में यहूदी लोग "नेशन" के नाते प्रतिष्ठाविहीन थे। क्योंकि उनके पास उनकी अपनी भूमि नहीं थी। भूमि को 'नेशन-संकल्पना का एक अविभाज्य अंग माना गया है। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् यहूदियों ने अपने भूमि पुन: प्राप्त कर उसमें अपना प्रबल नेशन स्थापित किया। शताब्दियों तक निर्वासित यहूदियों की श्रद्धा का केन्द्र एक ही भूमि थी, यद्यपि वह उनके कब्जे में नहीं थी। यह एक अपवाद था। विशेष मामला था। परन्तु लीग ऑफ नेशन्स इस पर यथार्थवादी दृष्टिकोण नहीं अपना सकी।

सम्पूर्ण विश्व के सभी लोगों की देखभाल करना है तो इस तरह पुस्तकीय या शास्त्रिक परिभाषाओं की मर्यादाओं को ध्यान में रखना होगा और उन मर्यादाओं में न आने वाले मानवसमूहों का यथार्थवादी दृष्टि से विचार करना होगा। बंजारा (घुमंतु) जाति के लोग, जिनको यूरोप में "रोमानी" कहा जाता है, अभी तक मानव अधिकारों से वंचित है। अनेक देशों में इन बंजारों को मतदान का अधिकार नहीं है। कई देशों में तो उन्हें नगरों के भीतर रहने की भी अनुमति नहीं हैं। इनको मानवाधिकार दिलाना दुनिया के कोतवाल के नाते यू. एन. ओ. की जिम्मेवारी है। पुस्तकीय परिभाषा में न उलझते हुए यू. एन. ओ. को यह कर्तव्य पूरा करना चाहिए। विचारकों को भी यह सोचना चाहिए कि एक विशिष्ट भूखंड का स्वामित्व और उस भूमि पर निवास ये दो अर्हताएं क्या सभी मानव समूहों पर सभी परिस्थितियों में निरपवाद रूप से लागू करने का आग्रह शास्त्रशुद्ध रहेगा या परिभाषा की दृष्टि से श्वानम् युवानम् मधवानम् आहुः" का हास्यास्पद मार्ग न स्वीकार करते हुए यह गतिशील चिंतन यथार्थवादी एवं उपयुक्त रहेगा कि "अलग-अलग मानवसमूहों का विकासक्रम अलग-अलग रहा है, और उसके कारण उनमें विकसित एकात्मता भी गुणात्मक दृष्टि से भिन्न-भिन्न स्वरूपों की है, इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए हरएक मानव समूह की एकात्मता का अलग से अध्ययन करके उसका स्वरूप, उसका गुणधर्म देखकर उसका वर्णन और उसके आधार पर उसकी परिभाषा करना सर्वथा वस्तुनिष्ठ और व्यावहारिक होगा? यूरोपीय उपनिवेशवाद को ध्यान में रखते हुए

विचार किया तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि युनाईटेड नेशन्स आर्गनाइजेशन द्वारा अपने सदस्य-नेशन के नाते किसको मान्यता देना शास्त्रीय दृष्टि से उचित रहेगा? यूरोपियों द्वारा व्याप्त देशों में आक्रामक यूरोपियों को 'नेशन' के रूप में मानने की पद्धति रूढ़ हो गई, है। किन्तु प्रश्न यह है कि ऐसे देशों में हरएक के मूल निवासियों का इस दृष्टि से क्या स्थान मानना चाहिए? रेड इंडियन्स मूल निवासी है, उनमें एकात्मता का भाव विद्यमान है। क्या उनका यही कसूर है कि वे क्रूर आक्रान्ताओं का प्रतिकार सफलतापूर्वक नहीं कर सके? आक्रामक श्वेतवर्णियों ने उनको अपने अन्दर आत्मसात् भी नहीं किया। उनको अलग बस्तियों में रहना पड़ता है। उनके ऊपर अपनी उपासना-पद्धति थोप दी तो भी इसके कारण दोनों में निकटता का भाव निर्माण नहीं हो सका। रेड इंडियन्स कहने लगे कि हमारे देश में जब ये यूरोपीय आए उस समय उनके हाथ में बाईबिल थी और हमारे हाथ में हमारी जमीन। किन्तु अब हमारे हाथों में बाईबिल है और उनके हाथों में हमारी जमीन। विशुद्ध पाशविक शक्ति के आधार पर, जिसकी लाठी उसकी भैंस (Might is right) के न्याय के अनुसार दूसरों की भूमि हड़पने वालों को युनाइटेड नेशन्स सदस्य के नाते मान्यता दे, और "नेशन" की प्रतिष्ठा को प्राप्त करने की योग्यता रखने वाले मूल निवासियों की ओर ध्यान भी न दें, यह कहां तक तर्कसंगत है।

कनाडा को स्वातंत्र्य प्राप्त होने के पूर्व तक वहां के मूल निवासी इण्डियन्स का ब्रिटिश साम्राज्य के साथ हुआ एक समझौता प्रचलित था, जिसके अन्तर्गत उनको कुछ विशेष सहूलियतें प्रदान की गई थी। स्वतंत्रता प्राप्त होते ही कनाडा की सरकार ने घोषणा की कि क्योंकि वह समझौता हमारे साथ नहीं हुआ था इसलिए वह हमारे ऊपर लागू नहीं होता। अतएव उसके अन्तर्गत दी गई सहूलियतें जारी रखने का प्रश्न ही नहीं उठता। इण्डियन्स का कहना था कि चूंकि नई कनेडियन सरकार ब्रिटिश साम्राज्य सरकार की उत्तराधिकारी थी, इसलिए पूर्व सरकार के सारे अभिवचन इस नई सरकार के लिए भी बन्धनकारक माने जाने चाहिए। इस विवाद को किसी न किसी अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर, चाहे वह ब्रिटिश कॉमनवेल्थ का हो या युनाईटेड नेशन्स का, कैसे उठाया जा सकता है, इस चिन्ता से वे ग्रस्त हो गए। हड़पने वाले प्रतिष्ठा प्राप्त जिनसे भूमि जबरदस्ती ली गई वे युनाइटेड नेशन की दृष्टि से प्रतिष्ठाहीन। (ऑस्ट्रेलिया को हड़पने वाले तो सब Criminal थे)। दक्षिण अफ्रीका के मूल निवासियों को 'नेशन' का अधिकार क्यों नहीं

प्राप्त हो रहा है? इस विषय में युनाइटेड नेशन्स की अधिकृत भूमिका क्या शास्त्रशुद्ध है? ऑस्ट्रेलिया के मूल निवासियों के महानरसंहार नरसंहार (Genocide) को अब Fait accompil। (निर्विवाद तथ्य) मान लिया गया है। उनकी संख्या कितनी थी, यह कोई नहीं बताता। किन्तु यह बताया जाता है कि उनमें २६० बोलिया-भाषाएं प्रचलित थी। स्पष्ट है कि उनकी जनसंख्या बहुत बड़ी थी। यूरोपियों द्वारा उनके महानरसंहार के पश्चात् यह संख्या कम हो गई। किन्तु क्या केवल संख्या की अल्पता के कारण ही उनको "नेशनहूड" की प्रतिष्ठा से वंचित रखा जा सकता है, और क्या केवल इसलिए कि उस भूखण्ड को दबाकर बैठे हुए श्वेतवर्णीय लोग नाराज न हो?

प्राकृतिक अनेकता से मानसिक एकता की और बढ़ने के मार्ग हर समाज के अलग-अलग हुआ करते हैं; तो भी इस विषय में कुछ सर्वसामान्य बातों की कल्पना कुछ विद्वानों ने प्रस्तुत की है।

प्रारंभ में मानव कृषि की कला नहीं जानता था। इस कारण शिकार तथा पशुपालन ही उपजीविका के साधन थे। इन दोनों साधनों का स्वरूप ही ऐसा था कि उनको निरन्तर स्थानांतरण करना पड़ता था। इसलिए प्रारम्भिक अवस्था में घुमन्तु टोलियां (Namodic tibes) सर्वदूर थी। बिल्कुल अकेले रहना भी संभव नहीं था। क्योंकि अकेला व्यक्ति प्रकृति का, प्राणियों का या घुमन्तु टोलियों का प्रतिकार करने में स्वयं को असमर्थ पाता था। पर टोली के सदस्यों में गहन एकात्मता रहती थी। उपजीविका के साधनों के स्वामित्व के लिए विभिन्न टोलियों में संघर्ष भी होते थे। इस कारण टोली की संघर्ष क्षमता कायम रखने की दृष्टि से अनुशासन तथा नेतृत्व के प्रति निष्ठा की आवश्यकता सभी के ध्यान में आती थी। इस मानसिकता को टायबलिज्म (Tribalism) -जनजातिवाद-संज्ञा दी गयी है।

बाद में कृषि का अन्वेषण हुआ। उसके प्रति आकर्षण भी बढ़ने लगा। कृषि कार्य का स्वरूप ही ऐसा था कि, उसके लिए निरन्तर एक ही भू-भाग में निवास करना अपरिहार्य था। घुमन्तु टोलियों में से अधिकाधिक लोग धीरे- धीरे कृषि कार्य में रुचि लेने लगे, अतएव एक ही भू-भाग में निवास करने लगे। कुछ दिन तक घुमन्तु जातियां और स्थापित कृषि समुदाय (Settled agricultural communities) साथ-साथ पनपने

लगे। आगे चलकर स्थापित समूह (Settled communities) में रहने वालों की संख्या बढ़ती गयी और घुमन्तु लोगों की संख्या घटने लगी।

कृषि कार्य के हेतु एक ही भू-भाग में निवास करने वाले लोगों में अपनी भूमि के प्रति आत्मीयता निर्माण होना स्वाभाविक था। निवासी जन तथा उनकी भूमि (Blood & soil) में एकरूपता होने लगी। घुमन्तु अवस्था में यह संभव नहीं था। वे किसी भी एक स्थान पर अधिक समय तक रह ही नहीं सकते थे, इस कारण किसी भी भूमि विशेष के विषय में प्रेम निर्माण होने का प्रश्न नहीं उठता था। स्थापित समूह (Settled communities) निर्माण होने के पश्चात् भूमि विषयक आत्मीयता स्वाभाविक रूप से निर्माण हुई। इसको टेरिटोरियलिज्म (क्षेत्रवाद) संज्ञा प्राप्त हुई। इन विद्वानों का अभिप्राय है कि ऐतिहासिक विकास- क्रम में जहां- जहां ट्रायवलिज्म (Tribalism) और टेरिटोरियलिज्म (Territorialism) का संयोग (Synchronisation) एककालन हुआ वहां राष्ट्रीयता (Nationality) का निर्माण हुआ।

इस विकासक्रम की दृष्टि से कौन सा मानव समूह किस अवस्था में है, क्या इसका शास्त्रीय मूल्यांकन यू. एन. ओ. ने किया है?

किसी भी व्यक्ति या व्यक्ति समूह की किसी भूमि के साथ एकात्मता होने के लिए प्रदीर्घ साहचर्य की आवश्यकता हुआ करती है। केवल संवैधानिक प्रावधान, कानून की धारा या संसद के प्रस्ताव के आधार पर एकात्मता निर्माण नहीं हो सकती। क्योंकि यह संविधान आदि का प्रश्न नहीं, मनोविज्ञान की बात है। भारत पर आर्यों के आक्रमण के पश्चिमी सिद्धांत का खंडन करते हुए डॉ० बाबासाहब आंबेडकर जी ने जो तर्क प्रस्तुत किए उनमें एक यह भी था कि, "The language in which reference to the seven rivers is made in the Rig Veda (X. 75.5) is very significant. No foreigner would ever address a river in such familiar and endearing terms as 'My Ganga, My Yamuna, My Saraswati.' unless by long association he had developed as emotion about it. In the face of such statements from the Rigveda, there is obviously no room for a theory of military conquest by the aryan race of the non-aryan races of Dasas and Dasyus."

डा. आंबेडकर जी के इस कथन के प्रकाश में अथर्व के निम्नलिखित मंत्र देखिए :-

(१) माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः। अथर्व १२/१/१२

(२) भूमे मात:। नि धेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम् अथर्व १२/१/६३

(३) मातरं/भूमि धर्मणा मृताम्। अथर्व १२/१/१७

(१) मेरी माता भूमि और मैं उस मातृभूमि का पुत्र हूं।

(२) हे मातृभूमि। मुझे उत्तम रीति से सुरक्षित तथा कल्याणकारक परिस्थिति से युक्त रखें।

(३) हमारी मातृभूमि की धारणा धर्म से होती है।

भूमि के प्रति सबकी सामूहिक एकात्मता-

सा न: माता भूमि:। अथर्व १२/१/१०

हमारी माता भूमि।

भारत में भूमि के साथ लोक समूह की इस प्रकार की एकात्मता जहां प्राचीन काल से रही है वहां पश्चिम में (यूरोप) इस प्रकार की एकात्मता का निर्माण अति अर्वाचीन है। इंग्लैंड फ्रांस आदि देशों में यह एकात्मता अभी- अभी निर्माण हुई है। वहां 'इंग्लिशमेन, 'फ्रेंच' का सामूहिक भाव तो था, किन्तु भूमि के साथ एकात्मता नहीं थी। इस कारण वहां के शासकों को कहा जाता था- 'King of the English ,'' King of the Franks'। भूमि के साथ एकात्मता होने के बाद 'Kings of England', 'King of France' ऐसी शब्दावली प्रारंभ हुई। किंग जॉन प्र थम 'King of England' था।

भूमि के साथ एकात्मता निर्माण होने के पूर्व यूरोप में जितने युद्ध हुए उनका आधार रिलिजन या राजवंश था। उदाहरणार्थ, चौदहवे लुई के साथ हुए इंग्लिश लोगों के युद्ध नेशन्स के युद्ध नहीं थे 'Kings wars' (सम्राटों के युद्ध) थे। इंग्लैड का विशुद्ध नेशन के स्तर का पहला युद्ध अठारहवी शताब्दी का 'जेन्कीन्स इअर्स वार' था।

यूरोप के सभी नेशन्स, बच्चा नेशन्स हैं। नेपोलियन कहते हैं: "There are in Europe more that thirty million Frenchmen, fifteen million Italians, thirty million Germans..... Out of each of these peoples, I wanted to make a united

national whole ....For France, Unity has been wrought; in Spain., it has proved unattainable; to establish the Italian nation, I should have needed twenty years; to make the Germans a nation would have required still more patience."

ग्रीस में नगर- राज्य थे, किन्तु 'ग्रीक नेशन, का निर्माण नहीं हुआ था। रोम भी नगर-राज्य था। रोम का साम्राज्य अर्थात् एक नगर राज्य का साम्राज्य रोमन नेशन का साम्राज्य नहीं था, 'रोमन नेशन' अस्तित्व में नहीं था।

प्राकृतिक अनेकता से मानसिक एकता की ओर बढ़ने का प्रयास जिस बिन्दु पर सफलतापूर्वक समाप्त होता है, उसी बिन्दु से राष्ट्रीयता (Nationhood) का प्रारंभ होता है। इस दृष्टि से विचार किया जाए तो यह शोध और अन्वेषण का विषय है कि कितने पश्चिमात्य समाजों में यह प्रयास सफलता तक पहुंचा है।

उदाहरणार्थ कनॉडा की बात लीजिए। युनाइटेड नेशन्स में कनॉडा भी नेशन माना गया है। किन्तु क्या वहां इस प्रकार की मानसिक एकता निर्माण हुई है? क्या यह सही नहीं है कि किसी अच्छे परिवार या समाज में भी व्यक्तिगत स्वार्थ या बाहर के भड़काने वाले लोगों की दुष्प्रेरणा के कारण झगड़े खड़े हो सकते हैं। परन्तु परिवार या समाज में मूलभूत एकात्मता रहे तो फूट के ऐसे सभी प्रयासों को मात देने की क्षमता उसमें विद्यमान रहती है। तात्कालिक, स्वार्थजन्य या बाहरी दुष्प्रेरणा के फलस्वरूप निर्माण हुए भेद ऊपर की बात है। मूलभूत एकात्मता सभी विषम स्थितियों को हजम कर लेती है। क्या ऐसा कहा जा सकता है कि कनाडा का प्रवास इस मूलभूत एकात्मता के लक्ष्य की ओर पूर्ण हुआ है? क्या विवेक केन्द्रित फ्रांसीसी मूल के लोगों का समूह शेष कनाडा के एग्लों सेक्सन (Anglo Saxon) लोगों की संस्कृति या राष्ट्रीयता (Nationalism) के साथ एकात्म हो गया है? जनरल द गॉल के कनाडा प्रवास के समय जो दृश्य वहां उपस्थित हुए उसके कारण कनाडा की एकात्मता पर प्रश्न चिन्ह लग जाता है।

युनाईटेड स्टेट्स आफ अमेरिका की अवस्था और भी शोचनीय है। समृद्ध परिवार के साथ अपना रिश्ता बताना प्रतिष्ठा का लक्षण माना जाता है। किन्तु परिवार की समृद्धि नष्ट होने के बाद कितने लोग उस परिवार के लोगों को अपना रिश्तेदार बताएंगे, यह संदेह की बात हो जाती है। आज अमेरिका समृद्ध है। किन्तु क्या अमेरिका वासियों में

मूलभूत एकात्मता निर्माण हुई है? मूलत: एग्लोसेक्शन (Anglo-saxon) संस्कृति वाले लोग प्रभावशाली है। फिर भी बाहर के विभिन्न देशों और विभिन्न मूल वंशों के जो लोग अमेरिका में जाकर बसे उनको एकात्म करना प्रारंभ से ही कठिन प्रतीत होने लगा।

प्रारंभ में बाहर के सभी लोगों के लिए मुक्त द्वार रखने की नीति उदारता की परिचायक मानी गयी। किन्तु अनुभव के आधार पर बाहर से आने वाले हर देश या वंश के लोगों की संख्या पर नियंत्रण लगाना आवश्यक प्रतीत होने लगा। प्रथम महायुद्व के समय युनाइटेड स्टेट्स के जर्मन मूल के लोगों ने युद्धरत जर्मनी के साथ खुली सहानुभूति प्रकट की और युनाइटेड स्टेट्स के अंतर्गत स्वायत्त जर्मन राज्य की मांग की। अमेरिका के महायुद्ध में प्रत्यक्ष रूप से कूदने के पूर्व से ही जर्मन लोगों के नेताओं की गिरफ्तारियां शुरू हुई थी। इस अनुभव के आधार पर प्रथम महायुद्ध के पश्चात् नेताओं ने Anglo Saxon Acculturation कार्यक्रम जोरों से चलाया। उसके विरोध में प्रतिक्रिया होने के पश्चात् यह प्रयास शिथिल किया गया। किन्तु अभी भी विभिन्न मूल-वंशीय लोगों को आत्मसात् करने का प्रयोग वहां सफल नहीं हुआ है। इस शताब्दी के सातवें और आठवें दशक में इसी दृष्टि से अमेरिका में मिश्रित बस्तियों के निर्माण का एक नया प्रयोग चलाया गया। मिश्रित बस्ती अर्थात् ऐसी बस्ती जिसमें भिन्न मूल-वंशीय लोग एकत्रित आकर बसें। इस योजना की अंतिम परिणति क्या हुई यह प्रकाशित नहीं हुआ। किन्तु सब लोग यह जानते हैं कि नीग्रों वंशीय तथा प्यूर्टोरिकन, मेक्सिकन, रेड इंडियन आदि लोगों का अलगाव अभी तक समाप्त नहीं हुआ, यद्यपि अलगाव की भावना धीमे-धीमे कम हो रही है।* (कृप्या परिशिष्ठ १ देखें)

आज की इस अवस्था में क्या यह कहा जा सकता है कि प्राकृतिक अनेकता से मानसिक एकता की ओर चल रहा युनाइटेड स्टेट्स का प्रवास अंतिम सफलता के बिन्दु तक अर्थात् राष्ट्रीयता (Nationhood) तक पहुँच गया है?

यह है कि ऑस्ट्रेलिया के श्वेतवर्णियों के सामने नृजातीय (Ethnic) समस्या नहीं है। क्योंकि आस्ट्रेलियन श्वेतवणियों में ९३. ४ प्रतिशत लोग ब्रिटिश मूल के हैं और बचे हुए में इटालियन, ग्रीक, युगोस्लावियन, डच तथा अन्य लोग शामिल हैं।

अफ्रीका

दक्षिण अमेरिका पर आक्रमण करने वाले श्वेतवर्णिय बड़ी मात्रा मूल निवासियों के साथ घुलमिल गए। किन्तु यह प्रक्रिया अफ्रीका में नहीं चली। विभिन्न आक्रामक यूरोपियों का जहां-जितना वश चला वहां उतना प्रदेश उन्होंने अपने कब्जे में ले लिया और वहां अपना-अपना राज्य घोषित किया। उस समय अफ्रीका में विकसित नेशन्स विद्यमान नहीं थे। वहां अलग-अलक टोलियां विद्यमान थी। एक ही यूरोपीय सत्ता के राज्य में एक से अधिक टोलियों का अस्तित्व, साधारणसी बात थी। एक राज्यान्तर्गत विद्यमान विभिन्न टोलियों के आपस में एकात्म होने के पूर्व ही उन प्रदेशों से हटना और वहां के लोगों के हाथ में शासन की बागडोर देना यूरोपीय साम्राज्यसत्ताओं के लिए, अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति के दबाब के कारण, अनिवार्य हो गया। राजनीतिक दृष्टि से ये प्रदेश स्वतंत्र हो गए। उनको स्वतंत्र राज्यों की प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। किन्तु राज्य एक होते हुए भी उसके अंतर्गत रहने वाली विभिन्न टोलियां अपना-अपना स्वतंत्र और पृथक अस्तित्व बनाए हुए है, और इस कारण राज्यमें वह एकात्मता नहीं आ सकी जो "नेशनहुड" के लिए अनिवार्य शर्त के रूप में है। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् अफ्रीका के अधिकतर भागों में यह दृश्य निर्माण हुआ। यू. एन. ओ. के नेताओं ने एकात्मता विहीन ऐसे अनेक अफ्रीकन राज्यों को "नेशन" के रूप में मान लिया। "राज्य, और नेशन' दो भिन्न संकल्पनाएंहैं। अफ्रीका के राज्यो के विषय में यह अनुभव में आता है कि अफ्रीका में लगभग ६, ००० टोलियां हैं। इनमें से कितनी टोलियां एक राज्यत्व के कारण आपस में इतनी घुलमिल गई है कि उनको 'नेशन' का नामाभिधान शोभा देगा?

नेशन का स्वरूप तथा उसकी परिभाषा यूरोप में समय-समय पर परिवर्तित होती रही है। किन्तु ये परिवर्तन भी यूरोप की परिस्थिति की पृष्ठभूमि में ही स्वीकार किए गए अफ्रीका महाद्वीप का गहराई से अध्ययन करने के बाद उनको यह अनुभव होने लगा कि गैर यूरोपियों संस्थाओं, परिस्थितियों तथा प्रक्रियाओं का आंकलन यूरोपीय मापदण्ड के आधार पर करना है। अवास्तविक हो सकता है। Nathan M. Shamuyarira कहते हैं "Experience in the first decade of the independence of most of Africa has changed our nation of nation bukilding "। दूसरे महायुद्ध के पश्चात् अमेरिका ने अफ्रीका का बारीकी से अध्ययन करना प्रारंभ किया।

जैसा ऊपर बताया गया है अफ्रीका में लगभग ६००० जनजातियां हैं, उनमें ८०० से १००० तक बोलियां और भाषाएं प्रचलित हैं। यूरोपीय मानस की पूर्वग्रहयुक्त धारणा के विपरीत एक तथ्य स्पष्ट रूप से अफ्रीका के संदर्भ में ध्यान में आया कि वंश, संस्कृति और भाषा की एकरूपता इस खंड में अनिवार्य रूप से नहीं दिखाई दी।

Encyclopedia Britannica मे लिखा है 'It is difficult to find strict correlations between lingustic, cultural and recial grouping either in Africa or else where in the world , Groups speaking identical or closely related language may be strikingly diffrent racially, culturally, or both, while groups that are very similar racially and culturally may speek diffrent and even unrelated languages" उपनिवेशवादी अशास्त्रीय विचार पद्धति के कारण ही अल् जीरिया, टयूनीशिया, लीबिया और मोरोंक्को को अलग- अलग इकाइंयां माना गया। वास्तव में चारों मिलकर एक इकाई मानी जानी चाहिए थी।

दक्षिण अमेरिका

इस संकलन के वर्ण्य विषय की दृष्टि से जितनी विस्तृत या अधिकृत जानकारी उत्तर अमेरिका के बारे में मिलती है उतनी दक्षिण अमेरिका के विषय में उपलब्ध नहीं है।

केवल 'नेशनलिज्म' का ही नहीं, सर्वसाधारण तत्वज्ञान (दर्शन) के बारे मे भी यही हाल है। "पाश्चात्य तत्वज्ञान", शब्द प्रयोग करने वाले व्यक्ति के मन में यूरोप, ग्रेट-ब्रिटेन तथा युनाइटेड स्टेटस की तत्वज्ञान (दर्शन) प्रणालियां ही रहती है। लेटिन अमेरिका के तत्वज्ञ दार्शनिक तथा उनके तत्वज्ञान का विचार साधारण व्यक्ति के मन में नहीं आता। क्योंकि प्रचलित (एंगलो- सेक्सन प्रभावित) पाश्चात्य तत्वज्ञान के इतिहास में दक्षिण अमेरिका को स्थान नही है। श्री फुहकर ने अपने 'A History of Philosophy' में लेटिन अमेरिका के लिए दो अध्याय दिए हैं। किन्तु इसके कारण प्रचलित पाश्चात्य तत्वज्ञान के इतिहास का एकांगीपन या एकदेशीयता समाप्त नहीं होती। ब्राजील के लुई पेरिरा बारेतो (Luis Pareira Barretto), मेक्सिकों के गाविनो वारेदा (Gabino Barrada) पेरू के मारियानों (Marriano Cornejo), चिली के लास्तारिआ (Lastarria), वोलीबिया के बेंजामिन फर्नाडिस (Benjamin Fernandes), अर्जेण्टिना के जे. आलफ्रेडो फेरिरा (A. Alfredo Ferreira), क्यूबा के के. एनरिक जोस वरोना (Enrique Jose Varona) पेरू

के आलेयांद्रो दूस्तुआ (Alejandro Deustua), उरुग्वे के जोस एनरिक रोडो (Jose Enrique Rodo), तथा मेक्सिको के जुस्तो सीरा (Justo Sierra) आदि तत्वज्ञों के नाम भी एंगलोसेक्सन जगत में सुपरिचित नाम नहीं है। फिर उनके तत्वज्ञान के परिचय की बात दूर की रही।

इस कारण 'नेशनलिज्म' के विषय में भी वहां के विद्वानों के विचार यहां उपलब्ध नहीं है। वैसे तो सांस्कृतिक दृष्टि से नॉनएग्लोसेक्सन मेक्सिको मध्य अमेरिका का ही एक हिस्सा माना जाता है, और पूरे पश्चिमी गोलार्ध को उत्तर अमेरिका, मध्य अमेरिका, और दक्षिण अमेरिका तीन हिस्सों मे बांटा जाता है। कुछ विद्वान मध्य तथा दक्षिण अमेरिका को एक ही वर्ग में गिनते हैं।

दक्षिण अमेरिका में आकर बसने वाले यूरोपीय नवागत जहां-जहां स्थानीय मूलनिवासियों के साथ घुलमिल गए वहां-वहां उन्होंने उनको (स्थानीय लोगों को) सांस्कृतिक दृष्टि से अपने-अपने मातृ देशों की संस्कृतियों के साथ एकात्म करने का प्रयास प्रारंभ किया। उत्तर अमेरिका में यूरोप से आने वाले विभिन्न देशीय तथा मूल वंशीय आगंतुकों की संख्या अधिक थी। दक्षिण अमेरिका में इस तरह यूरोप से आने वालों की संख्या कम थी। तो भी ऐसे भिन्न देशीय तथा भिन्न (वंशीय आगंतुकों का अपनी मातृदेशीय संस्कृति के साथ अभिसरीकरण का प्रयास सभी देशों में चलता रहा। किन्तु इन प्रयासों के परिणामों के विषय में अद्यावत् जानकारी उपलब्ध नहीं है। यह जानकारी एकत्रित करने की प्रक्रिया अभी पूरी नहीं हुई है। उदाहरणार्थ, ब्राजील का सबसे बड़ा राज्य अमाजोनिया है। इसकी भूमि पर यूरोपियों का पदार्पण सन् १५४१ में हुआ था। किन्तु विभिन्न पहलुओं से इस राज्य की सर्वांगीण जानकारी अब तक संकलित नहीं हुई। अभी भी अमेरिकन जिओग्राफीकल सोसायटी, संयुक्त राष्ट्र संघ की कुछ संस्थाएं तथा कुछ और भी अन्य स्वतंत्र संस्थाएं इस कार्य में जुटी हुई हैं। अन्य दक्षिण अमेरिकी देशों की भी यही स्थिति है। इस कारण वहां के विभिन्न राज्यों, देशों या भागों के बारे में निर्णयात्मक रूप से कुछ लिखना इस समय संभव नहीं है। यद्यपि इस तरह की पूरी जानकारी प्राप्त नहीं हुई तो भी मोटे तौर पर कुछ तथ्य सामने आते हैं : -

१. स्पेनी मूल के यूरोपीय आगन्तुक जिस तरह मूल निवासियों में घुलमिल गए उस तरह पुर्तगाली मूल के आगन्तुक अपने प्रदेश के मूल निवासियों के साथ समरस नहीं हुए।

२. मूल निवासियों से समरस होने के पश्चात् स्पेनी मूल के आगन्तुकों ने अपना दक्षिण अमेरिकन भूमि के साथ रिश्ता पक्का कर लिया, मूल देश स्पेन के साथ मानसिक दृष्टि से वे जुड़े नहीं रहे, और 'हम विजेता है तथा 'मूल निवासी विजित है' यह भाव अपने मन में उन्होंने नहीं रहने दिया। मूल निवासियों सहित हम सब एक ही स्थानीय समाज के अंश है, यही भावना उनके मन में रही।

३. मेक्सिकों में रहने वाले यूरोपीय तथा मूल निवासियों के समरस समाज में यह इच्छा जागृत हुई कि स्पेनी लोगों का आगमन होने के पूर्व जो मूल राष्ट्रीय संस्कृति मेक्सिकों में विद्यमान थी उसके विषय में अधिकाधिक जानकारी प्राप्त कर लेना चाहिए और वर्तमान स्थिति में उस प्राचीन राष्ट्रीय संस्कृति के कितने अंश पुनरूज्जीवित किये जा सकते हैं यह देखना चाहिए। मेक्सिको के संपूर्ण समरस समाज का मानसिक झुकाव स्पेनिश-पूर्व राष्ट्रीय संस्कृति की ओर हुआ। इस तरह की मानसिकता अन्य स्पेनिश प्रभावित किन्तु समरस दक्षिण अमेरिका समाजों में मेक्सिकन समाज की तरह तीव्रता से अब तक निर्माण नहीं हुई है।

दक्षिण अमेरिका में वांशिक अभिसरीकरण होने का प्रमुख कारण यह है कि इस विषय में मूल निवासियों तथा आगन्तुक श्वेतवर्णीयों की मानसिकता एक सी है। किन्तु यह सर्वत्र संभव होना संभव नहीं है। जहां परंपरागत अस्मिता का आग्रह है वहां यह नहीं हो सकता। उदाहरण के लिए दक्षिण अफ्रीका का महाकवि बेंजामिल मॉलवाज, या कृष्णवर्णी नायजेरियन, नोबल पुरस्कार विजेता लेखक प्राध्यापक बोल सोपिंग, इनका जो कुछ साहित्य उपलब्ध है उसको संकेत रूप मान लिया जाए तो अफ्रीका में इस वांशिक अभिसरीकरण की प्रक्रिया को मूल निवासियों के गले उतारना लगभग असंभव प्रतीत होता है। उनकी पीड़ा यह है कि "श्वेतवर्णीयों का सम्पर्क बढ़ने के बाद हम हमारी जड़ों से कट जाते हैं।" प्रतिकार की यह भावना वहां अधिक व्यापक दिखाई देती है। उदाहरणार्थ, विएतनामी लोगों को ऐसा संकर रक्त स्वीकार नहीं है। विएतनाम में अमेरिकन सैनिक ओर महिलाओं से "अमेरिजियन" प्रजा निर्माण हुई। उनकी संख्या पचास हजार थी। विएतनाम के आग्रह के कारण इन सब लड़कों को अमेरिका ले जाने का निर्णय करने के लिए प्रेसिडेण्ट रीगन को बाध्य होना पड़ा। इन लड़कों को केवल विएतनामी भाषा आती थी।

सन् १९ ४७ से १९५४ तक इण्डोचायना युद्ध के समय फ्रेंच सैनिक और विएतनामी महिलाओं के संयोग से ३००० से अधिक "यूरेशियन" बच्चे पैदा हुए। विएतनाम ने उनको स्वीकार नहीं किया। अंत में सन् १९७७ में फ्रेंच सरकार को विशेष आदेशदेकर इन लड़कों को फ्रांस ले जाकर उनको फ्रांसीसी नागरिकता प्रदान करनी पड़ी।

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् ६ वर्ष तक जापान पर अमेरिका का प्रभुत्व था। उस अवधि में जिन जापानी गीशाओं के साथ अमेरिकनों का प्रेम विवाह हो गया, उन गीशाओं को जापान ने अमेरिका भेज दिया।

अपनी साम्राज्य सत्ता की सुविधा के लिए अंग्रेजों ने हेतुपूर्वक कई धारणाएं प्रचारित की। इनमें एक धारणा यह थी कि भूतकाल में भारत कभी भी एक राष्ट्र के रूप में नहीं रहा, अंग्रेजों का एकछत्र साम्राज्य सम्पूर्ण देश में स्थापित होने के पश्चात् तथा उसके फलस्वरूप, भारत में राष्ट्रभाव का उदय होने लगा, राजनीतिक शासकीय एकता के कारण ही "एकराष्ट्र" की भावना का निर्माण संभव हो सका और इस दृष्टि से भारत की राष्ट्रीयता भारतीयों को अंग्रेजों की देन है-जिसके लिए हमें अंग्रेजों के प्रति सदैव कृतज्ञ रहना चाहिए। हम अभी राष्ट्र बन रहे हैं।

'Nation is the making'

ऐसा अंग्रेजों ने कहा और "साहबवाक्यं प्रमाणम्" मानने वाले भारतीय विद्वानों ने उनकी इस बात को स्वीकार करके प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया। यदि कोई राष्ट्रवादी इसका प्रतिवाद करता तो ये मेकाले के मानसपुत्र उसके साथ शास्त्रार्थ करने के लिए तैयार हो जाते। वे प्रतिप्रश्न करने "आपका तथाकथित सनातन राष्ट्र क्या हमारी "नेशन" की परिभाषा में ठीक ढंग से बैठ सकता है? पाश्चात्य लोगों द्वारा तैयार की हुई "नेशन" की परिभाषा में आपका "राष्ट्र" नहीं बैठता तो उसे "राष्ट्र" की संज्ञा तथा प्रतिष्ठा कैसे प्राप्त हो सकती है? यदि यह प्रतिष्ठा प्राप्त करनी हो तो आपके "राष्ट्र" शरीर को पाश्यिमात्यों की "नेशन" की परिभाषा की खटिया Procrustian Bed पर सुलाइए, उस खटिया की लम्बाई के अनुसार काट छांटकर उसका शरीर ठीक फिट कीजिए, पश्चिम के बच्चा "नेशन्स" के लिए परिभाषा के जो छोटे किन्तु आकर्षक वस्त्र तैयार किए गए हैं उनमें आपके प्रौढ़ राष्ट्र का शरीर पूरी तरह समाना चाहिए, यदि वह नहीं समा सकता तो उसे "राष्ट्र" की संज्ञा नहीं दी जा सकती। यह प्रतिष्ठा प्राप्त करनी हो तो इस प्रौढ़ को चारों

ओर से अपने अवयव काटकर स्वयं अपने को नवजात शिशुओं के नूतन किन्तु छोटे कपड़ों में समाने का प्रयास करना चाहिए।"

पहली बात यह कि वस्तु या प्रक्रिया और उसकी परिभाषा में अन्योन्याश्रित संबंध कैसे हुआ करते हैं, इस विषय में क्या प्रकृति तथा शास्त्रीयता का मार्गदर्शन उपलब्ध है? यदि है तो वह क्या है?

"सोशिओलॉजी" शब्द का निर्माण ऑगस्ट कॉमटे ने सन् १८३९ में किया। किन्तु शताब्दियों पूर्व प्लेटो के समय से समाज रचना के विषय में प्रासंगिक अविकसित अध्ययन प्रारंभ हो चुका था। हमारे देश में समाजशास्त्र का विकसित अध्ययन ऋग्वेद में पाया जाता है।

किन्तु प्रथम मानव समाज का निर्माण ऋग्वेदकाल के पूर्व सहस्रों वर्ष पूर्व हो चुका था।

ऐसा माना जाता है कि शास्त्र के नाते मनोविज्ञान का निर्माण पश्चिम में फ्राइड ने किया। भारत में मनोविज्ञान का विकसित रूप पतंजलि में देखने को मिलता है। किन्तु मनुष्य का मन तथा मनोव्यापार का उदय पंतजलि से भी पूर्व हो चुका था।

प्रथमतः स्वरों से रागों तक का विकास हुआ और उसका क्रमशः अनुसरण करते हुए संगीत शास्त्र का विकास हुआ।

संस्कृत को सबसे अधिक शास्त्रीय भाषा माना जाता है किन्तु उसके विषय में भी विकासक्रम इस तरह का नहीं रहा कि सर्वप्रथम पाणिनी का व्याकरण तैयार हुआ और उसके पश्चात् उस व्याकरण के प्रकाश में भाषा का निर्माण हुआ हो संस्कृत का विकासक्रम, इसके विपरीत बिल्कुल स्वाभाविक रहा। प्रथम भाषा प्राकृत हुई। उसका संस्कार होकर परिनिष्ठित भाषा संस्कृत बनी। उसकी प्रकृति का सर्वांगीण अध्ययन किया गया। उसके प्रकाश में अष्टाध्यायी और सिद्धांत कौमूदी की रचना हुई। शब्दभंडार भरपूर होने पर अमरकोष बना।

अंग्रेजी भाषा के विषय में भी यही क्रम रहा है। इस भाषा का निर्माण डॉ० जॉनसन के प्रथम शब्दकोष के आधार पर नहीं हुआ। पहले भाषा विकसित हुई और उसके गुणधर्मों का बारीकी से अध्ययन करने के पश्चात् उस भाषा का प्रथम शब्दकोष तथा व्याकरण बनाया गया।

फिलासिफीकल कल्चरल अन्थ्रॉपॉलॉजी का प्रारंभ इस शताब्दी के द्वितीय दशक में हुआ, आधुनिक अँन्थ्रॉपॉलॉजी का उदय १९ वीं शताब्दी के प्रथमार्ध में हुआ। अन्थ्रॉपॉलॉजी संज्ञा का प्रथम प्रयोग १६ वीं शताब्दी के अंत में किया गया तो भी इस विषय पर अनौपचारिक ढंग से सोच-विचार का दर्शन पांचवी शताब्दी के प्रोटागोरस तथा सुकरात, हिप्पोक्रेटस, अरस्तु, हिरोडाट्रस तथा थुसिडिडस में पाया जाता है। किन्तु इन सबके विचार तथा अध्ययन का विषय बना हुआ मानव तथा मानव समाज प्रोटागोरस के सहस्रों वर्ष पूर्व भी अस्तित्व में था। ऐसा नहीं हुआ कि मॉण्टेन का Essais, मार्ग्रेन का 'Ancient Society' तथा आलफ्रेड एल. फ्रोबर द्वारा संपादित 'Anthropology Today' इस साहित्य का लेखन पहले हुआ हो, और इसमें कथित विवरण को प्रमाण मानकर प्रथम मानव ने या प्रथम मानव समाज ने धरती पर पदार्पण किया हो। प्रथम मानव तथा मानव समाज का निर्माण-विकास, बाद में उसका सूक्ष्म अध्ययन, अध्ययन पर आधारित विवरण, और उसमें से निकलने वाले निष्कर्षों के प्रकाश में उसकी परिभाषा यही क्रम स्वाभाविक तथा अपरिहार्य है।

सारांश

निसर्गसिद्ध तथा शास्त्रसम्मत क्रम यही दिखाई देता है कि प्रथम वणर्य वस्तु या प्रक्रिया अस्तित्व में आती है उसका निर्माण होता है। तत्पश्चात् उसकी संवीक्षा करते हुए उसके आधार पर उसका सर्वंकष वर्णन या विवरण होता है, बाद में विवरणों में ग्रथित तथ्यों की विश्लेषणात्मक शास्त्रीय रचना होती है, उसके प्रकाश में प्रकट होने वाले गुणधर्मों तथा नियमों को एकत्रित कर उस वस्तु या प्रक्रिया की शास्त्रीय परिभाषा की जाती है। यह क्रम निरपवाद रूप से सभी शास्त्रीय चर्चाओं में पाया जाता है। पहले परिभाषा बना लेना और फिर उस परिभाषा के अनुसार वणर्य वस्तु या प्रक्रिया होनी चाहिए, यह आग्रह रखना अशास्त्रीय है। किन्तु पाश्चिमात्यों के भारतीय मानसपुत्रों ने राष्ट्र संकल्पना के विषय में इसी तरह का बचकाना आग्रह रखा और कहा कि आपका हिन्दू राष्ट्र पश्चिमी नेशन की परिभाषा में ठीक बैठता है या नहीं यह देखकर इस विषय में निर्णय लेना चाहिए।

उनकी यह विचार पद्धति अशास्त्रीय तो थी ही, साथ ही आश्चर्य की बात यह थी कि जिस नेशन की परिभाषा के चौखट,-Procrustian Bed में वे हिन्दू राष्ट्र को फिट करना

चाहते थे उस नेशन की परिभाषा के विषय में पश्चिम में ही कितनी चर्चाएं हुई। कितने परस्पर भिन्न विवरण प्रस्तुत किए गए। काल के प्रवाह में ऐतिहासिक घटनाक्रम के परिणाम स्वरूप विभिन्न परिभाषाओं में किस तरह परिवर्तन आते गए, और इस स्थिति के फलस्वरूप नेशन शब्द की पश्चिम के सभी लोगों को स्वीकार हो इस तरह की एक परिभाषा निश्चित करना आज कितना असंभव तथा अव्यवहार्य हो गया है, इसकी जानकारी इन प्रगतिशील विद्वानों को नहीं है, यह भी अब स्पष्ट हो चुका है। कुछ दशकपूर्व पश्चिम में यह माना जाता था कि किसी भी संकल्पना की सर्वमान्य परिभाषा यदि उपलब्ध नहीं हुई तो वह संकल्पना ही अस्तित्वहीन मानी जानी चाहिए। उसे एक कल्पना मात्र मानना चाहिए। यदि उसको अवास्तविकता की श्रेणी में न डालना हो तो उसकी सर्वमान्य परिभाषा प्रस्तुत करनी ही चाहिए।

बाद में अनुभव के आधार पर उनके ध्यान में आने लगा कि कई शास्त्रशुद्ध सत्य या संकल्पनाएं ऐसी हैं कि जिनको परिभाषा की चौखट में बिठाना न संभव है और न व्यावहारिक दृष्टि से आवश्यक ही। भारत में यह तथ्य प्राचीन काल में ही हमारे दृष्टाओं के ध्यान में आया था और तथ्य को परिभाषा की चौखट में बिठाने की दृष्टि से अपनी असमर्थता को "नेति" शब्दों में स्वीकार करने का नैतिक साहस भी उन्होंने दिखाया था। यह संतोषजनक बात है कि इस मानसिकता को समझने की क्षमता कुछ पश्चिमी विचारकों में अब आ रही है। हमारे प्रगतिशील बुद्धिवादी इस साक्षात्कार तक अभी नहीं पहुंचे हैं। वे अभी दशकों पूर्व की धारणा से ही चिपक कर चल रहे हैं कि हर तथ्य की सर्वमान्य परिभाषा उपलब्ध होनी ही चाहिए।

उनकी जानकारी के लिए केवल एक ही बात उदारहण के रूप में प्रस्तुत करना पर्याप्त होगा। "राष्ट्र" या "नेशन" से अधिक विशाल आशय रखने वाली संकल्पना है मानव अधिकारों Human Rights की। पश्चिम में इस संकल्पना का बीजारोपण मध्ययुगीन नैतिक तथा राजनीतिक विचारप्रणालियों से हुआ, और जॉन लॉक, हयूगों, ग्रोश्यिस, रूसो तथा थॉमस पेन के साहित्य से इसको बल प्रदान हुआ। मतलब यह कि मानव अधिकार की संकल्पना नई नहीं है। उसके पीछे कई शताब्दियों का इतिहास है। और १० दिसम्बर १९४८ को संयुक्त राष्ट्र संघ की महासमिति द्वारा मानव अधिकारों की

सार्वभौम घोषणा Universal Declaration o fHuman Rights को स्वीकार करने के पश्चात् इसको जागतिक मान्यता तथा प्रतिष्ठा भी प्राप्त हुई है।

यह सब होते हुए भी "मानव अधिकार" (Human Rights) की सर्वमान्य परिभाषा आज भी उपलब्ध नहीं है, हालाँकि ऐसी परिभाषा के अभाव के कारण यह संकल्पना ही अवास्तविक या अस्तित्वहीन हो चुकी है, ऐसा कहने का साहस कोई बुद्धिमान व्यक्ति नहीं कर सकता।

'Human Rights in the Changing World'

की भूमिका में भारत के पूर्व मुख्य न्यायमूर्ति श्री आर. एस. पाठक ने इस बात पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। वे कहते हैं "The principal difficulty lies in the nonavailability of an adequate substantive definition of human rights. The definition provided by Richard Wasserstrom reflecting the common general understanding of the concept, fails as an insufficent and simplistic definition."

किन्तु इसके कारण "मानव अधिकार" की संकल्पना को अर्थहीन नहीं माना जा सकता।

यही बात "राष्ट्र" या "नेशन" के विषय में भी सही है।

वैसे तो इससे भी बुनियादी तत्व के विषय में मामला इसी तरह का है। हमारे "प्रगतिशील सर्वज्ञ", बुद्धि के ठेकेदार हैं। दुनिया की हर चीज की परिभाषा (Definition) इनकी जेब में है। परिभाषा के बिना कोई भी विचार शास्त्रीय नहीं हो सकता ऐसा उनका दावा है। जिसकी सर्वमान्य परिभाषा उपलब्ध नहीं उसका अस्तित्व स्वीकार करना उनकी दृष्टि से अशास्त्रीय है।

पाश्चिमात्य वैज्ञानिक इतने "विद्वान" नहीं है। क्योंकि दुर्भाग्य से वे प्रामाणिक (Honest) भी है। वे स्वीकार करते हैं कि जिसकी परिभाषा उपलब्ध नहीं ऐसी वस्तु भी अस्तित्वमान हो सकती है।

"प्रतिगामी हिन्दूराष्ट्र समर्थक" और हवा में छलांग लगाने वाले बुद्धि के ठेकेदार दोनों के लिए सबसे महत्वपूर्ण तत्व है- जीवन (Life) । पश्चिम का आयुर्विज्ञान (Medical Science) यह स्वीकार करने में संकोच नहीं रखता कि जीवन (life) की परिभाषा

(Definition) उसके पास उपलब्ध नहीं है। तो प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जीवन का अस्तित्व है भी या नहीं।

शास्त्र चर्चा में परिभाषा का महत्व अवश्य है। किन्तु यह महत्व असीम या निरपवाद नहीं है। उसकी कुछ मान्य सीमाएं हैं।

'जीवन (life) की परिभाषा क्या है, यह प्रश्न कुछ जिज्ञासु युवकों ने श्री जे. कृष्णमूर्ति से पूछा। जीवन के विविध पहलुओं का विवरण करने के बाद श्री जे. कृष्णमूर्ति ने कहा 'Life is ass things. But how do our petty, confused minds approach life? That is importan, and not the definition or description of what life is. On our approach to life, all questions and answers depend.'

यह अभिप्राय सभी महत्वपूर्ण तथ्यों तथा संकल्पनाओं के विषय में इतना ही सत्य है।

"मानव अधिकार" संकल्पना का स्वरूप तथा परिभाषा कालक्रमानुसार परिवर्तित होती गई। इसी कारण First Generation Human Rights, Second Generation Human Rights, Third Generation Human Rights. यह शब्दावली प्रचलित हुई।

"नेशन" संकल्पना का स्वरूप तथा परिभाषा भी कालक्रमानुसार बदलती गई। प्रथम महायुद्ध के पूर्व का कालखंड, प्रथम महायुद्धोत्तर कालखंड, द्वितीय महायुद्ध पूर्व का कालखंड, द्वितीय महायुद्धोत्तर कालखंड में इसकी परिभाषा में परिवर्तन हुआ।

ऐसा नहीं है कि एक ही कालखंड में, जैसे आज की स्थिति में "मानव अधिकार" संज्ञा के उच्चारण से, दुनिया के सभी लोगों के मन में एक ही प्रतिमा निर्माण होती है। संकल्पना का रूप सबके लिए एक समान न होने का एक कारण है। दृष्टिकोण (Approach) की भिन्नता। Natural law approach, Historical approach, positivist approach, Marxist approach। दूसरा कारण है विभिन्न समाजों के ऐतिहासिक उत्क्रमण की भिन्नता। एक तो सामान्यत: उत्तरी देशों तथा दक्षिणी देशों के और फिर विशेष रूप से तृतीय विश्व के विभिन्न समाजों में ऐतिहासिक परम्पराओं, संस्कृतियों, विचार प्रणालियों के विषय में विद्यमान भिन्नता।

"नेशन" शब्द के उच्चारण से भी दुनिया के सभी लोगों के मन में एक ही रूप कल्पना होती है, ऐसी नहीं है। मानव अधिकार संज्ञा के उच्चारण के कारण उत्पन्न होने वाली प्रतिमाभिन्नता और 'नेशन' शब्द के उच्चारण के कारण पैदा होने वाली प्रतिमाभिन्नता के मूल कारण एक जैसे (Identical) तो नहीं है, किन्तु सदृश (Similar) अवश्य हैं।

यूरोपीय साम्राज्यवाद जब अपने चरम उत्कर्ष पर था उन दिनों यूरोपीय विद्वानों ने एक धारणा बना ली थी। वह धारणा यह थी कि दुनिया के हर एक समाज को ऐतिहासिक विकास के उसी क्रम में से जाना पड़ा होगा या जाना पड़ेगा, जिस क्रम में से यूरोपीय समाज गुजरे है, और दुनिया के सभी समाजों के लिए प्रगति तथा विकास का एकमात्र जागतिक मॉडल वही हो सकता है जो यूरोप ने अपने सामने रखा है। इस कारण 'नेशन' या अन्य सामाजिक संस्थाओं का निर्माण तथा विकास भी उसी तरह दुनिया में सर्वत्र हुआ होगा जिस तरह यूरोप में हुआ है, और ऐसी संस्थाओं का स्वरूप तथा परिभाषा सर्वत्र वही होनी चाहिए जो यूरोप में रही है, इसके अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकता।

इस आग्रही प्रतिपादन का प्रभाव बहुत लम्बे समय तक गैर यूरोपीय लोगों के मन पर था। किन्तु धीरे - धीरे कुछ विचारक इस बौद्धिक दासता से मुक्त होने लगे। उदाहरण के लिए इस्लाम के इतिहास के एक विद्वान श्री मुहम्मद कुतुब का निम्नलिखित संप्रेक्षण देखिए।

'The different stages of economic evolution infers communist society and slavery, capitalism and then the final communism that is final communist society. When it is dialectical materialism described as a common phenomenon in the history of the mankind, really it has no existence what soever outside the European history. These stages were never passed through by any people outside Europe."

प्रगति तथा विकास की दृष्टि से संसार के सभी समाजों के सामने एक मात्र नमूना (Paradigm) हो सकता है, और वह याने यूरोपीय है, इस दावे की प्रतिक्रिया में - "Toward a non Western model of Development में श्री इनायतुल्ला लिखते हैं- ' (The West) presumes that all history is inexorably moving towards the

same destiny, same goals, and the same value systems as western man has.... Marshalling evidence from the period of ascendency of western society and conveniently ignoring the vast span of technological development before this period which the traditional societies had developed and transmitted to the western society, it ignores the fact that technological and material development before this period were not a lways the product of a combination of universalism, functional specificity, achievement orientation and effective neutrality."

(Communication and change in the Developing countries)

'नेशन' लेटिन भाषा के शब्द नेटियो (Nation) से त्यव्युत्पन्न है। नेटियो (Natio) जन्मगत एकात्म मानव समूह की ओर संकेत करता है, किन्तु आधुनिक नेशन्स के निर्माण में केवल यह वांशिक तत्व ही योगदान नहीं करता। अलग- अलग 'नेशन' का भिन्न-भिन्न ऐतिहासिक विकासक्रम रहा है। इस कारण सभी देशों के 'नेशनहुड' के घटक अवयवों में एकरूपता नहीं है। हरएक के गुण धर्म में अपनी कुछ विशेषता पाई जाती है। वस्तुत: गुणात्मक दृष्टि से हर एक 'नेशन' की अपने ढंग की अलग पहचान होती है। एक शब्द का एक ही अर्थ हो तथा हरएक भिन्न अर्थच्छाया के लिए भिन्न शब्द प्रयोग हो, यह शास्त्रशुद्ध व्यवहार है। शब्द एक, उसके अर्थ एक से अधिक, या अर्थ एक, उसको प्रकट करने वाले शब्द एक से अधिक, यह व्यवस्था व्यवहार में है। लोक में प्रचलित है। तो भी व्यवहार में एक और पहलू का विचार प्रभावी हुआ। गुणधर्मो की दृष्टि से मूल नेटियो (Natio) से बहुत भिन्न होते हुए भी और विविध देशों के 'नेशनहुड' के घटक अवयवों में भिन्नता दिखाई देने के बावजूद व्यवहारिक दृष्टि से यह सोचा गया कि "एक अर्थ के लिए एक शब्द" के शास्त्रीय नियम का कठोरतापूर्वक पालन किया गया तो संकेतों की बहुविधता इतने प्रमाण में आएगी कि उसके फलस्वरूप भाषा में भ्रांतिपूर्ण अवस्था निर्माण होगी। इतने विधि संकेतों को ध्यान में रखते हुए सामान्य बातचीत करना बहुत ही अव्यवहारिक (Unmanageable) हो जाएगा। इस दृष्टि से वास्तव में भिन्न- भिन्न अर्थछटाओं का एक ही शब्द के द्वारा प्रकट करने का अशास्त्रीय विचार स्वीकार किया गया।

किन्तु इसके कारण अशास्त्रीयताजन्य संभ्रम भी निर्माण हुआ। श्रेष्ठ विचारकों के अभिप्रायों में हमें इसका दर्शन मिलता है Thomos Middleton ने यह कहा है कि "How many words have suffered corruption since Chaucer's days" प्रमित और सही शब्द का प्रयोग न होने पर विचार का सूक्ष्म संप्रेक्षण नहीं हो पाता। केवल स्थूल भाव ही संप्रेषित होता है।

यह ध्यान में रखने योग्य बात है कि जहां एक ओर मेकाले के भारतीय मानसपुत्र हिन्दूराष्ट्र की चर्चा करने वालों से मांग करते हैं कि पहले पाश्चिमात्य नेशन के मापदंड से अपनी हिन्दूराष्ट्र की संकलपना की शास्त्रीय सत्यता को सिद्ध करो, वहां दूसरी ओर पश्चिम के शास्त्रीय विचारक यह ढूंढ पाने में असमर्थ हो रहे हैं कि किस विशिष्ट, सुस्थिर, सुनिश्चित, सुस्पष्ट वस्तु या संकल्पना को "नेशन" की संज्ञा प्रदान की जाए।

सर जॉन रॉबर्ट सीली का निष्कर्ष है "we take no pains to conceive or define precisely what we call a nationality."

'The Principle of Nationalities' में Israel Zangwile ने नेशनेलटीज के सिद्धांत का वर्णन 'One of those tropical jungles of thought in which politics and journalism frlurish' शब्दों में करते हैं।

'The Eastern Question में Sir John a Marriot यह निष्कर्ष निकालते है कि 'the principle of nationality has defied definition and even analysis.'

Viscount James Bryce 'Essays and Addresses in War time' में विनम्रतापूर्वक स्वीकार करते हैं कि नेशनलिटी 'Nationality' की परिभाषा नहीं दे सकते। Nationalism में George P. gooch लिखते हैं कि 'Nationalism is an organism, a spiritual entity, and all attempts to penetrate its secrets by the light of mechanical interpretation break down before the test of experience.'

'A Country of Nationalism' में H. L. Featherstone स्पष्ट रूप से बताते हैं कि 'Nationalism is not capable of scientific definition."

Florian Znanieckiका अभिप्राय है कि 'Inview of the terminological confusion, the editors of several encyclopedias have omitted the word 'nation'

altogether. For example, international Encyclopedia, Encyclopedia of the social sciences, Encyclopedia Britanica and Hand worterbuch der staat swissenschafte."

Lowis L. Snyder अपने 'The Meaning of Nationalism' में बताते हैं कि 'Nationalism may mean whatever a given people, on the basis of their own historical experience, decide it to mean.'

ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने हिन्दुओं को राष्ट्र संकल्पना के विषय में गुमराह करने का प्रयास जब प्रारम्भ किया उन दिनों पश्चिम में Mr. Dougall Theory प्रचलित थी। इस सिद्धान्त की यह मान्यता थी कि जैविक (Biological) आधार पर मूल प्रवृत्ति (Instincts) के कारण नेशन नेशन् में फर्क दिखाई पड़ता है। यह थिअरी अब पश्चिम ने त्याग दी है। नेशनल केरेक्टर (राष्ट्रीय चरित्र) नाम की कोई बात अस्तित्व में हो सकती है, यह स्वीकार करने के लिए प्रथम विश्व युद्ध के पहले, पश्चिम में कोई तैयार नहीं था। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् इस स्थिति में परिवर्तन आया। अपनी- अपनी संस्कृति को आत्मसात करने की प्रक्रिया के फलस्वरूप विविध समाजों में भिन्न- भिन्न 'नेशनल केरेक्टर' (राष्ट्रीय चरित्र) का विकास होता है, इस सिद्धान्त को क्रमश: अधिकाधिक मान्यता मिलने लगी और अब तो नेशनल केरेक्टर का सुव्यवसस्थित शास्त्र ही विकसित होने लगा है।

किन्तु हमारे भ्रमित विद्वान Mr. Dougall Freudian वायुमंडल में ही जी रहे हैं।

वास्तव में 'Tensions that Cause Wars' में इसका स्पष्ट संकेत मिलता है कि अध्ययन करने वाले समाज शास्त्रज्ञ कितने ही वस्तुनिष्ठ रहने का प्रयास क्यों न करें, हर एक के सुपरिचित सांस्कृतिक वायुमंडल का प्रभाव उसके मन पर तथा लेखन पर अपरिहार्य रूप से होता है।'We are a bation in the making' कहने की फैशन भारत में जब प्रचलित हुआ तब यूरोपीय साम्राज्यवाद के चरण आगे बढ़ रहे थे। सर जॉन रॉबर्ट सिली का Expabsion of England जनमानस पर प्रभाव जमा रहा था। British Nationalism पर साम्राज्यवाद का और जर्मन नेशनलिज्म पर बीज रूप में जर्मन विस्तारवाद का रंग चढ़ गया था। सभी सामाजिक संस्थाओं में राज्य State Government सर्वाधिक महत्वपूर्ण है, यह धारणा बलवान हो गई थी। इस भावना का

भी राजनैतिक प्रसार शासकीय एकता ही नेशनलिज्म का आधार है। इस शताब्दी के प्रारंभ में एक स्वस्थ कल्पना प्रचलित हुई। वह थी राष्ट्रराज्य (Nation-State) की। एक राष्ट्र का एक ही राज्य हो तथा एक राज्य के अंतर्गत एक ही राष्ट्र रहे, यह विचार उचित ही था। किन्तु नेशन संकल्पना के गैरराजनीतिक विविध आधारों का विचार आखों से ओझल हो जाने के कारण राज्य की इकाई को ही सर्वाधिक महत्व प्राप्त होता गया। १७७२ के बाद पोलेण्ड का तीन बार विभाजन होने के कारण सन् १९११ में पोलिश राज्य की स्थापना होने तक पोलिश नेशनलिज्म का कोई भौगोलिक आधार नहीं रहा था। तब तक सभी पोलिश लोगों का मिलाकर नेशन के नाते एकत्रित विचार करने की गंभीर इच्छा यूरोपीय सत्ताओं को नहीं हुई। उसके ठीक विपरित वे ऑस्ट्रोहंगेरियन नेशनलिज्म की चर्चा स्वाभाविक रूप से करते थे। इस पृष्ठभूमि पर Grammer of Politics में Harold Laski ने चेतावनी दी थी कि 'We must avoid the elementary error of identifying the State with the whole hierarchy of social institution.' किन्तु यह युक्तिसंगत बात ग्रहण करने की मानसिकता पश्चिमी राजनेताओं में नहीं थी।

मिथ्या धारणाओं के आधार पर प्रथम महायुद्ध के पश्चात् विजेताओं ने यूरोप का नक्शा गलत ढंग से बनाया। उसके अंतर्गत हर राज्य को नेशन मान लिया गया। इसके परिणामस्वरूप मध्य तथा पूर्व यूरोप में तीन करोड़ लोगों को अल्पसंख्यक बनाया गया और फिर उनके संरक्षण का दायित्व 'लीग ऑफ नेशंस' को सौंपा गया। यह सब रचना निराधार संकल्पनाओं के कारण ही हुई थी। इसी रचना में दूसरे महायुद्ध का बीजारोपण हुआ था। वास्तव में 'लीग ऑफ नेशंस' का नामकरण होते ही श्री अरविन्द ने यह गलती राजनेताओं के ध्यान में लाने का प्रयास किया था। उन्होंने कहा था कि यह नवनिर्मित जागतिक संस्था 'लीग ऑफ नेशंस' नहीं है, यह तो 'लीग ऑफ स्टेट्स' या 'लीग ऑफ गवर्नमेंटस' है, और इस कारण संस्था को अपेक्षित यश प्राप्त नहीं हो सकता।

अब सब लोग अनुभव करने लगे है कि ऐतिहासिक घटनाक्रम में यह भूल थी। शासकीय एकता के कारण 'नेशनहुड' का निर्माण नहीं हो सकता, यह सत्य रूस, युगोस्लाविया आदि देशों में चल रही घटनाओं से सुस्पष्ट हो रहा है। पश्चिम की मानसिकता Expansion of England से निकल कर 'पेरेस्ट्रॉयका' तक पहुंच गई है। किन्तु हिन्दू

राष्ट्र विरोधी 'अति प्रगतिशील विद्वान अभी भी सर जॉन राबर्ट सीली या रूडयार्ड किपलिंग के ही जमाने में रह रहे हैं। राजनीतिक शासकीय एकता के प्रभाव की मर्यादाओं तथा सांस्कृतिक एकता के प्रभाव पर ध्यान देने के लिए उनका मानस अभी तक तैयार नहीं है।

प्रगतिशील भारतीय विद्वान नेशन की जिस संकल्पना से चिपक कर बैठे है उसका निर्माण जिस कालखंड में हुआ उसमें पाश्चिमात्य लोगों में किसी भी विषय का समग्रता से अध्ययन करने की प्रवृत्ति नहीं थी। भारतीयों में यह प्रवृत्ति प्राचीन काल से चली आ रही है। किन्तु पश्चिमी देशों में इसका स्वीकार सर्वप्रथम द्वितीय महायुद्ध के समय किया गया। वह भी शास्त्रीयता के कारण नहीं, उसकी उपयोगिता के कारण। किन्तु बाद में बहुविज्ञानीय उपागम (Multi-Dis-ciplinary approach) वहां भी लोकप्रिय हो गया। नेशन तथा नेशनेलिज्म के विषय में भी यह बहुविज्ञानीय उपागम अपनाना प्रारंभ हुआ। इतिहासज्ञ, मनोवैज्ञानिक, समाज शास्त्री, Anthropologists, अर्थशास्त्री, राजनीति शास्त्री, पर्यावरण विज्ञानी, आदि सभी शास्त्रज्ञों ने अपने-अपने शास्त्र के आधार पर नेशन संकल्पना का विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रारंभ किया। इस नई प्रक्रिया में दो तरह की कठिनाइयां आ रही है। एक यह कि प्रक्रिया नई होने के कारण यह प्रयास प्रारंभिक अवस्था में ही है।

उदाहरणार्थ, कुछ समय पूर्व तक नृविज्ञानी (Anthropogists) अपने अध्ययन को प्राथमिक अवस्था के मानव समूहों परकेन्द्रित करते थे। उन्होंने उस अवस्था के समूहों का शास्त्रीय अध्ययन करने की दृष्टि से उपयुक्त तंत्रों का विकास अब तक किया था। अब नेशन जैसी संकल्पना का विश्लेषणात्मक अध्ययन करने की दृष्टि से उन तंत्रों में कौन सी नई बात जोड़नी पड़ेगी इसका विचार तथा तदनुरूप प्रयोग शास्त्रज्ञ चला रहे है।

राजनीतिक शास्त्री अभी तक इस चर्चा में लगे हुए हैं कि किसी भी समाज का परिवर्तन उसके नेशनल करेक्टर के परिवर्तन के कारण होता है या सामाजिक संस्थाओं में लाए गए परिवर्तन के कारण।

परिवर्तन के माध्यम के नाते अर्थशास्त्र की उपयोगिताओं तथा मर्यादाओं के विषय में इसी तरह का विचार-विमर्श चारों ओर चल रहा है।

इतिहास के क्षेत्र में इस बात पर चर्चा है कि नेशनल करेक्टर स्थायी भाव रखने वाला लक्षण है क्या? यूरोपीय नेशंस का अनुभव इसके विपरीत है। मैकिआव्हेली के इटली, मैजिनी के इटली और मुस्सोलिनी के इटली में भावनात्मक संबंध नहीं है। यही बात रोबस्पियेर, नेपोलियन तथा मार्शल पैता के फ्रांस के बारे में भी है। इस विषय में दूसरा मत यह प्रचलित है कि राजनेताओं तथा राजनीतिक परिस्थितियों के कारण राष्ट्र के व्यवहार में बदल हो रहा है, ऐसा आभास तत्काल हो सकता है। किन्तु यह बात तात्कालिक ही है। अपने 'National character and the factors in its formation' में Ernest Karker लिखते हैं 'An Individual, in his measure, moves unconsciously towards the settled form wich is his character. This is even truer of the history of nation and their characters than it is of the individual man.'

इस विषय में इतिहास शास्त्री भी किसी स्थायी निष्कर्ष पर नहीं पहुंच सके है। यह भी विचार चल रहा है कि Nationalism और Patriotism में गुणात्मक अंतर क्या है?

किन्तु ये सारे प्रयास नूतन होने के कारण अब तक प्रायोगिक तथा प्राथमिक अवस्था में ही है। उदाहरणार्थ, प्रसिद्ध समाज शास्त्री का निम्न लिखित संप्रेक्षण देखिए : "Despite the occasional allusions to sociology in the titless of books on nationalism and despite the direct bearing of nationalistic phenomena upon important theroretical problems in sociology, no general sociological study of nationalsimm exists.'

इस विषय में दूसरी कठिनाई यह है कि जिन शास्त्रों का उपयोग इस कार्य के लिए किया जा रहा है उनके अंदर ही प्रगति के कारण पुराने निष्कर्षो को हटाया जा रहा है और नये निष्कर्षों की प्रस्थापना हो रही है। उदाहरण के लिए एक शास्त्र की ही बात हम देखें।

मनोविज्ञान का शास्त्र इस कार्य में जुटा हुआ है। मनोवैज्ञानिक 'नेशनल-करेक्टर' के स्थान पर, कैसी भी मानव समूह की आधारिक व्यक्तित्व संरचना (Basic personality structure) अभिव्यक्त का प्रयोग करते हैं। उनका प्रेक्षण है कि नेशन बनाने वाले सभी व्यक्तियों में कुछ सामान्य व्यवहार पद्धतिया उन समूहों में नहीं पाई जाती जो भिन्न सांस्कृतिक वायुमंडल में रहते हैं। एक नेशन में कुछ व्यक्तियों के व्यवहार में मानक

पद्धति से भिन्नता तो पाई जा सकती है, किन्तु यह निर्विवाद है कि जो एक समान सांस्कृतिक संरचना में रहते हैं उनकी व्यवहार पद्धति में निश्चित रूप से समानता दिखाई देती है। विभिन्न नेशंस की अपनी-अपनी विशिष्ट व्यवहार पद्धतियां हुआ करती है।

किन्तु यह सोचना गलत होगा कि इस विषय में मनोविज्ञान का निष्कर्ष हमेशा इसी तरह का रहा है।

शास्त्र की गहराई में न जाते हुए इतना ही संकेत करना पर्याप्त होगा कि फ्राईड की विचार- प्रणाली के अनुसार मनुष्य की संस्कृति के बीज सदा के लिए तथा निरपवादरूप से उसके जैविक गठन (Biological Constitution) में हुआ करते हैं। सन् १९४१ में प्रकाशित हुए Eric Fromm के 'Escape From Freedom' से समाजस्थिति विषयक आधुनिक मनोवैज्ञानिक विचार में उल्लेखनीय परिवर्तन आया। व्यक्ति तथा समाज के परस्पर संबंधों के विषय में फ्राईड ने जो निष्कर्ष निकाला था फ्राम ने उसके ठीक विपरीत निष्कर्ष इस पुस्तक में प्रस्तुत किया। फ्राईड के विचार में जो आधारभूत स्थान मूल प्रवत्ति (Instincts) को था वही फ्राम के विचार में Culture को प्राप्त हुआ। फ्राम ने Acculturation की प्रक्रिया का विवरण दिया। उसके Social Character में 'National Character' समाविष्ट है।

केवल नमूने के तौर पर मनोविज्ञान का उदाहरण यहां प्रस्तुत किया गया है। किन्तु वास्तव में हर शास्त्र में इस तरह की प्रगति तथा नवीकरण हो रहा है, और इसका स्वाभाविक परिणाम उस शास्त्र द्वारा नेशन तथा नेशनलिज्म के विषय में चल रहे प्रेक्षण तथा निकाले गए निष्कर्षों पर होना अनिवार्य है। Carton J. H. Hayes, Max Wirth तथा L. L. Snyder, ने स्पष्ट रूप से निष्कर्ष निकाला है कि Nationalism के विभिन्न प्रकार आज अस्तित्व में है।

इस तरह संबंधित विषय पर पश्चिम का विचार गतिमान (Dynamic) है। किन्तु हमारे हिन्दू राष्ट्र विरोधी "प्रगतिशील" विद्वानों की खटिया (Procrustian Bed) स्थितिमान (Static) है, और वे हमें आह्वान दे रहे हैं कि आपके हिन्दू राष्ट्र की संकल्पना की शास्त्रशुद्धता पश्चिमी मापदंड से सिद्ध करके दिखाइए।

संबंधित साहित्य

नेशन तथा 'नेशनलिज्म' विषय पर पश्चिम में विपुल साहित्य प्रकाशित हुआ है।

हमारे लिए यह दुख का विषय है कि भाषाओं के अज्ञान के कारण कुछ महत्वपूर्ण लेखक तथा उनका साहित्य हमारी पहुंच के बाहर है। उदाहरणार्थ, अर्जेन्टिना के रूडॉल्फ रॉकर, ऑस्ट्रिया के Otto Bauer, Ignaz Seipel तथा Karl Renner इटली के P. S. Mancini तथा Count Terenzio Mamiani Della Rovere, स्पेन के F. P. Margall, स्विटजरलैंड के Karl Hilty तथा बेल्जियम के Arnold Van Gennep।

इस विषय से संबंधित फ्रेंच भाषा का साहित्य कुछ अंश में अंग्रेजी में अनुदित हुआ है, यद्यपि Ernest Renan के कुछ लेखन का भाषांतर उपलब्ध नहीं है।

तो भी अंग्रेजी भाषा की खिड़की (Window) दृष्टिपथ में आने वाला साहित्य भी बहुत विस्तृत है। इसमें स्वाभाविक रूप से अधिकांश योगदान ग्रेट ब्रिटेन तथा युनाइटेड स्टेट्स का ही है। कनाडा के W. S. Walllace का Growth of Candadian National Feeling (ग्रंथ इस दृष्टि से अपवादभूत है। अमेरिकन विद्वान Hans Kohn ने जर्मन स्लाव, रशियन तथा पौर्वात्य नेशनलिज्म का विवरण प्रस्तुत किया है। उनके 'The Roots of Modern Nationalism,' The idea of Nationalism Prophets and People' तथा 'The Twentieth Century' ग्रंथ तथा 'Before America Decides' पुस्तक में 'Nationalism' लेख भी इस दृष्टि से सुसंगत है। Carlton J. H. Hayes ने फ्रांस के विषय में, 'Oscar janowsky ने पूर्व मध्य यूरोप के विषय में, W. M. Gewehr तथा R. W. Seton-Watson ने बाल्कन देशों के विषय में, Robert R. Ergang ने जर्मनी के विषय में लेखन किया है। कौहेन तथा हेज़ के अलावा कई एंगलोसेक्सन विचारकों ने 'नेशनलिज्म' पर साहित्य निर्माण किया है उनमें प्रमुख है- समाजशास्त्रीय दृष्टि से Florian Znaniecki, Max Sylvius Handman तथा Max Wirth, तथा राजनीतिशास्त्रीय दृष्टि से Willian Ebenstein, Carl. J. Friedrich, Franz Neumann, H. J. Laski, C. A. Macartney तथा F. L. Schuman; वंशशास्त्रीय दृष्टि से John Oakesmith तथा Sir Arthur Keith, मनोविज्ञान की दृष्टि से Morris Ginsberg; W. B. Pillsbury, Gardner Murphy, Alex Inkeles, Ralph Linton; संस्कृति की दृष्टि से Ruth Benedict, Rudolf Rocker, Frederick Hertz इतिहास

के नाते इंग्लैंड के Freeman, stubbs, Froude, Carlyle Macaulay अमेरिका के Baneroft, Halvadan koht, Fiske जर्मनी के Dahlman, Droysen Sybel, Treitschke, Giesebrecht; फ्रांस के Michelet, Michaud, Mignet, Lamartine, Guizot तथा Thiers.

सामान्यतया "नेशन" के विषय में अनेक पश्चिमी विद्वानों ने लिखा है, उन सबके लेखन से यह साहित्य समृद्ध हुआ है। किन्तु सबका नामोल्लेख करना यहां संभव नहीं है।

इस विषय से संबंधित सर्वेक्षण के दो दस्तावेज महत्वपूर्ण हैं। प्राध्यापक ई.एच. कार की अध्यक्षता में "रायॅल इन्स्टिट्यूट ऑफ इण्टरनेशनलअफेअर्स" के सदस्यों के स्वाध्याय वर्ग द्वारा इस विषय पर प्रस्तुत की गई रिपोर्ट "Nationalism" नामसे प्रकाशित हुई है। "सोशल सायन्स कौन्सिल" तथा यूनेस्को प्रकल्प की रिपोर्ट भी इस विषय पर उपलब्ध है।

इस विषय से संबंधित कुछ ग्रंथ सूचियां (Bibliographies) भी उपलब्ध हैं।

(१) Edward B.Krehbiel 'Nationalism, War and Society' में दी हुई ग्रंथ सूची।

(२) Koppel S.Pinson की A Bibliographical Introduction to Nationalism;

(३)Encyclopaedia of the social science में श्री M.H. Boehm तथा Carlton J.H. Hayes के नेशनलिज्म पर लिखे हुए लेखों के बाद दी गई ग्रंथ सूची; तथा (४) Karl W. Deutsch; ‘Nationalism and Social Communication' में प्रस्तुत ग्रंथ सूची।

Nationalism के विभिन्न प्रकारों की दृष्टि से विशेष ग्रंथ है Carlton J.H. Hayes का Two Varieties of Nationalism , Original and Derived ; Max Wirth का Types of Nationalism ; तथा L.L. Snyder का 'The Meaning of Nationalism' इनके अलावा Carlton J.H. Hayes के 'Essays on nationalism, The Historical Evolution of Modern Nationalism और Encyclopaedia of Social Sciences में प्रकाशित आलेख Nationalism ; Israel Zangwill का 'The Principle ofNationalities ';George P Gooch का Nationalism ; Bewrnand Joseph का

Nationality ;It's Nature and Problems ;Edward Krehbiel का Nationalism, War and Society ; और Hamilton Fyfe का 'The Illusion of National Character' .

दोनों विश्व महायुद्धों के पूर्व तथा पश्चात् पश्चिम में 'नेशनलिज्म' तथा इंटरनेशनलिज्म' सर्वाधिक सार्वजनिक चर्चा का विषय बना। इनके पारस्परिक संबंध के विषय पर परस्पर विरोधी तथा अतिवादी विचारों तथा प्रवृत्तियों का प्रकटीकरण हुआ। रूस तथा जर्मनी में मार्क्सवादी विचारधारा का प्रतिनिधित्व करने वाले दो ग्रंथ थे। एक था लेनिन का 'Uber die Nationale Frage तथा दूसरा स्टालिन का Marxism & The National Question। इसके विपरीत विचार का प्रतिनिधित्व जर्मनी कर रहा था।

"नेशनेलिटी" के मनोविज्ञान का अध्ययन १८६० में Moritz Lazarus तथा Heymann Steinthal ने प्रारंभ किया। Wilhem Wundt ,Friedrich Meienecke, Waldemar Mitscherlich, Eugen Lemberg, Otto Vossler, S.R. Steinmetz तथा F.J. Neumann आदि विद्वानों ने इस अध्ययन को आगे बढ़ाया। इसके अलावा भाषाशास्त्र, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, आदि पहलुओं से भी जर्मनी में इस विषय का अन्वेषण किया गया। इन दोनों देशों के अलावा इस विषय से संबंधित अन्य देशों में प्रकाशित साहित्य इतना अतिवादी (Extremist) नहीं था। इसमें उल्लेखनीय साहित्य है A.J. Toynbee का 'Nationality & the War ; Ramsay Muir का 'Nationalism and Internationalism ; Halvden Koht का 'The Dawn of Nationalism in Europe; W.B.Pillsubury का 'The Psychology of Nationality and Internationalism; H.L. Featherstone का ' A Century ofNationalism ; Don Luigi Sturzo का 'Nationalism & Internationalism ' ;Dr.Cantril द्वारा सम्पादित 'Tentions that cause war' और Morroe Berger का ' Understanding National Character & War.

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् इस विषय पर हुई चर्चा का विस्तृत विवरण आगे अध्याय में दिया गया है।

संघटक

हमारे प्रगतिशील, स्वयंघोषित बुद्धि के ठेकेदारों ने यह प्रचार चलाया है कि हिन्दुत्व के समर्थक दकियानूसी हैं। उनका दिल-दिमाग सोलहवीं शताब्दी में है। आधुनिक दुनिया की उनको बिल्कुल जानकारी नहीं है। कूपमण्डूक प्रवृत्ति के कारण सर्वाधिक प्रगत पश्चिम से कुछ भी सीखने की इनकी न इच्छा है, न क्षमता ही। इस तरह ' holier than thou attitude''मैं तुझसे श्रेष्ठ यह दर्शाने की अभिवृत्ति के कारण बिना किसी प्रयास के उनको अहंकार की संतुष्टि हो जाती है, निहित स्वार्थ वाले राजनेताओं का संरक्षण भी उनको प्राप्त होता है, समाज में प्रगतिशील होने का दंभ भी वह भर सकते हैं। और यह सब मामला बड़े सस्ते में सम्पन्न हो जाता है क्योंकि प्रतिगामी, दकियानूसी बनने के लिए जैसे हिन्दुत्व समर्थकों को त्याग, तपस्या, बलिदान लगातार करना पड़ता है वैसा करने की इनको आवश्यकता नहीं है। कुशलतापूर्वक प्रचार माध्यम (media) से सम्पर्क स्थापित करना ही इनके लिए पर्याप्त है।

किन्तु यह प्रचार भ्रम मूलक और शरारतपूर्ण है। प्रगतिशील लोगों की "साहेब वाक्यम" पर अंधश्रद्धा अवांछनीय है। पश्चिमात्यों से सीखने लायक कुछ भी नहीं हो सकता यह पूर्वाग्रह भी अवांछनीय है। हिन्दू वृत्ति "बालादपि सुभाषितम ग्राह्यम् " की है। सभी का अध्ययन करना और उसमें से "नीरक्षीर-विवेक" से तय करना कि क्या ग्राह्य है और क्या त्याज्य यह ज्ञान के सभी क्षेत्रों के लिए लागू है, चाहे वह क्षेत्र विज्ञान का हो, तंत्रज्ञान का हो, तत्वज्ञान और दर्शन का हो, या कलाओं का।

नीर-क्षीर विवेक के उदाहरण के रूप में एक आधुनिक शास्त्र की ही बात लीजिए। समाजशास्त्र अब विकसित हो गया है। किन्तु उल्लेखनीय बात यह है कि अपनी सामाजिक समस्याएं सुलझाने के लिए जिन उपाय योजनाओं का व्यावहारिक अवलंबन पश्चिमात्य लोगों ने किया उनका विवेचन, कुछ अपवाद छोड़ दिए तो, साधारणत: उनके समाज शास्त्रीय ग्रंथ में उपलब्ध नहीं है। इसलिए भारत की नवरचना का विचार करते समय पश्चिम का ग्रंथबद्ध समाजशास्त्र हमारे लिए उपयुक्त नहीं है। उनके दर्शन के इतिहास (Philosophy of History) के ग्रंथ तथा इतिहास के अर्थ शास्त्रीय स्पष्टीकरण के ग्रंथ हमारे लिए सहायक हो सकते है। उदाहरणार्थ प्राध्यापक फ्लीट का History of

philosophy of history, या प्राध्यापक सेलिगगन का Economic interpretation of History।

युरोप के सामाजिक स्थिति में परिवर्तन का इतिहास उद्‌बोधक है, किन्तु उसको अनुप्रयुक्त समाजशास्त्र (applied sociology) कहना पड़ेगा। उनका ग्रंथिक या ग्रंथबद्ध समाजशास्त्र हमारे काम का नहीं है। क्योंकि उसमें यह नहीं दिया गया है कि उन्होंने समकालीन सामाजिक प्रश्नों का हल किस प्रकार किया। विविधता में एकता निर्माण कैसे करना इसका उत्तर देने वाला साहित्य यूरोपीय समाजशास्त्र में नहीं है। किन्तु समाज के एकात्मीकरण के विषय में उनका अनुप्रयुक्त इतिहासशास्त्र बहुत उपयुक्त हो सकता है। इंगलिश, वेल्स, स्कॉच, आयरिश, समूहभेद हैं। बेलियम में फलेमिश और वालून का भेद है। स्पेन तथा पूर्व यूरोप में भी इसी तरह के समूह भेद हैं।

अनुप्रयुक्त समाजशास्त्र याने क्या? रोमन राज्य की प्रारंभिक अवस्था में उनके पास महिलाओं की संख्या कम थी, इसलिए परजातीय महिला किसी भी मार्ग से प्राप्त करना उनके लिए अनिवार्य हो गया था। इसके फलस्वरूप उनके इतिहास में एक व्यावहारिक प्रक्रिया देखते है। वह है गैर रोमन लोगों को रोमन लोगों के अधिकार प्रदान करके उनको अपने समाज में समाविष्ट कर लेना। विजेता विलियम (William the Conquerer) नॉर्मण्डी के ड्यूक का दासी पुत्र था। नॉर्मण्डी में उसका सामाजिक स्थान तथाकथित नीच जाति का माना जाता था। इंग्लैण्ड में विजेता बनने के बाद उसने अपने सैनिकों और सरदारों के विवाह स्थानीय सेक्सन तथा ब्रिटेन जातियों के जमींदार वर्ग में करवाएं।

पंद्रहवी-सोलहवीं शताब्दी में इटली में औद्योगिक जातियां निर्माण हुई। उन दिनों में किसी को भी कारीगरी सिखाते समय यह देखा जाता था कि वह व्यक्ति वही काम करने वाली जाति की स्त्री से पैदा हुआ है या नहीं।

कार्डिनल रिश्ल्यू नये प्रकार की कृषि जानने वाले लोग तथा विविध कारीगर हालैण्ड से अपने फ्रांस में लाया और देशी लोगों के साथ उनका विवाह करा कर उन्हें फ्रेंच बनाया गया।

दक्षिण आफ्रीका का जो हिस्सा पुर्तगालियों के पास था उसका पुर्तगालीकरण करने के हेतु उन्होंने वहां कैथोलिक पंथ का प्रचार किया। वहां के सिद्दी पुरुषों के विवाह पुर्तगाली

स्त्रियों के साथ करा दिए। जिन्होंने सिद्दी लोगों के साथ विवाह करने की शर्त मान ली उन एक लाख महिलाओं को पुर्तगाल से वहां भेजा गया और उनको वहां जमीने दी गई।

गोआ में हिन्दुओं से ईसाई बने लोग जाति भेद मानते थे। इसलिए वहां पोप जाति भेद को स्वीकार करने वाला अध्यादेश (बुल) निकालने के लिए बाध्य हो गए।

ये सब व्यावहारिक समाजशास्त्र के उदाहरण हैं। यह "नीर-क्षीर विवेक" उन बुद्धि के ठेकेदारों ने स्वार्थवश छोड़ दिया है।

दूसरी बात यह है कि जिस समय ये हिन्दूराष्ट्र कल्पना की शास्त्रशुद्धता सिद्ध करने के लिए चुनौती देते हैं उस समय वे स्वयं न "हिन्दू" के बारे में कुछ समझने का प्रयास करते हैं, न राष्ट्र के बारे में। और जिस ठाठ के साथ ये लोग ललकारते हैं कि आधुनिक याने पश्चिमी मापदंड की कसौटी पर हिन्दुओं की राष्ट्रीयता सिद्ध करके दिखाओ, उससे उनकी यह धारणा स्पष्ट होती है कि आधुनिक पश्चिम के पास "नेशन", नेशनलिज्म, "नेशनहुड" की कोई एक सुस्पष्ट, सुनिश्चित संकल्पना है, उसकी सुस्पष्ट सुनिश्चित परिभाषा है, उसका सर्वमान्य स्वरूप है, सर्वमान्य घटक (Ingredients) है, सभी का सर्वमान्य एक दृष्टिकोण है, बस कमी केवल इस बात की है कि यह सब पश्चिम से उठाकर यहां लाना और उनकी कसौटी पर हिन्दूराष्ट्र संकल्पना को परखना। सबकी परीक्षा लेने का दावा करने वाले ये स्वयंनियुक्त बुद्धि के ठेकेदार या तो स्वयं इस विषय में पश्चिम की भूमिका के बारे में जानकारी नहीं रखते, या यदि जानकारी रखते हैं तो जानबूझकर जनता को गुमराह कर रहे हैं।

"नेशनलिज्म कितने स्वरूप"?

किसी भी कालखंड में, किसी भी भूभाग में जो मान्यता प्रचलित रहती है, समूहगत अस्मिता पर उसका अमिट परिणाम होता है। उसी का स्वरूप नेशनलिज्म है। फ्रांस की राज्यक्रांति की तत्वत्रयी ने प्रारंभिक- "नेशनहुड्स" को प्रभावित किया। उस समय मान्यता बन गई कि नेशनलिज्म का स्वरूप लोकतंत्रवादी, उदार, ही रहता है। ब्रिटेन के नेशनलिज्म की परिणति साम्राज्यवाद में हुई, जिसका प्रतिनिधित्व रूडयार्ड किपालिंग, जे. ए. क्राम्ब (Cramb), सर जॉन राबर्ट सीली, कर्जन और चर्चिल जैसे व्यक्तियों ने किया। द्वितीय महायुद्ध के पूर्व "Blood and soil" के सिद्धांत पर आधारित, बिस्मार्क

हिटलर से प्रभावित "स्वयंमेव" अस्तित्ववादी, कट्टरपंथी नेशनलिज्म का विकास जर्मनी में हुआ। परिणामस्वरूप गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसे महापुरुष भी नेशनलिज्म की उपयोगिता के विषय में संदेह दृष्टि से देखते थे। मान्यताओं का प्रभाव कितना होता होगा उसको समझने की दृष्टि से निम्न दो उदाहरण देखिए।

जोसेफ मॉजिनी अपने 'Duties of Man' में कहते है : - "The countries of the peoples will arise instead of the countries of kings and privileged classes, a nd between these countries there will be harmony and fraternity. "God divided huma nity in to distinctgroups of nuclei, thus creating the germ of nationality."

सुडेटन सार्वमत के अवसर पर प्रचारित भाषण में मार्शल गोअरिंग कहते है- "We have expelled Jews from public life because their capital was Moscow, cathloics becuase their capital was Rome; and Freemasons, because they talked of internationalism."

भावनाओं में उत्तर और दक्षिण ध्रुव जैसा अन्तर है। इसी भावना को जे. एच. रोज ने Intolerant and aggressive instinct कहते हैं, Extremist न होते हुए भी थिओडोर रूजवेल्ट कहते है Loving other nations as much as one loves one's own nation is like loving other woman as much as loving one's own wife." इसके अलावा मार्क्स के शिष्य न होते हुए भी इतिहास के आर्थिक Interpretation को महत्व देने वाले लोगों की मान्यता है कि नेशनलिज्म का स्वरूप आर्थिक हुआ करता है। वे "आर्थिक नेशनलिज्म" की बात चलाते

प्रश्न उत्पन्न होता है कि इनमें से किस स्वरूप के नेशनलिज्म को सच्चा (Genuine) नेशनलिज्म माना जाए। मैजिनी का मानवतावादी, हिटलर का स्वयंमेव अस्तित्ववादी, किपलिंग का साम्राज्यवादी, रूजवेल्ट का यथार्थवादी या अर्थशास्त्रज्ञों का आर्थिकतावादी? और यदि ये भिन्न-भिन्न स्वरूपों की संकल्पनाएं है, तो फिर हर एक के लिए एक स्वतंत्र संज्ञा प्रदान करना शास्त्रशुद्ध रहेगा, या विभिन्न स्वरूपों के होते हुए भी सभी के लिए एक ही संज्ञा नेशनलिज्म (Nationalism) का प्रयोग करते रहना उचित होगा।

मंत्रविप्लव

किसी भी शब्द का असावधानी से ही क्यों न हो, गलत प्रयोग किया गया तो उसके दुष्परिणामों से बचना संभव नहीं है। हिन्दुत्वनिष्ठ लोगों ने प्रारंभ से ही अंग्रेजों द्वारा प्रचारित एक भाषांतर अविचारपूर्वक स्वीकार किया। वह गलती है हिन्दुत्व के पर्यायवाची के रूप में अंग्रेजी शब्द हिन्दुइज्म (Hinduism) की स्वीकृति। हिन्दुत्व के अर्थ में हिन्दुइज्म (Hinduism) का प्रयोग करना भूल है। हिन्दुत्व के अर्थ में "हिन्दुइज्म" शब्द का प्रयोग हम सद्भावनापूर्वक करते आ रहे हैं। हमने यह नहीं सोचा कि उसके कारण हिन्दुत्व की प्रतिष्ठा तथा व्यापकता घटकर, वह सोशलिज्म कम्युनिज्म, गांधीज्म जैसी "इज्म" के स्तर पर तथा इस्लाम, ईसाईयत् आदि रिलिजन्स के स्तर पर आ जाता है। वास्तविकता यह है कि हिन्दू "इज्म", भी नहीं और "रिलीजन" भी नहीं है। किन्तु इस तथ्य का प्रतिपादन तब अंतर्विरोधी प्रतीत होता है जब हम हिन्दुइज्म (Hinduism) शब्द का प्रयोग करते है। अंतर्विरोध वास्तविकता में नहीं, उसका आभास गलत शब्द का प्रयोग करने के कारण होता है। "हिन्दुत्व" का सही भाषांतर हिन्दुनेस (Hinduness) है, और यदि यही शब्द प्रारम्भ से प्रचलित होता तो कुछ भ्रांतियां तो उत्पन्न ही नहीं होती।

शब्द प्रयोग के विषय में सावधानी का महत्व श्री गुरुजी बार-बार बताते थे। उदाहरणार्थ, मान्यवर श्री लालबहादुर शास्त्री जी को दिनांक २१. ८. १९६१ को लिखा उनका पत्र देखिए। "हिन्दू और सिख", का भेद निर्माण करने वाले शब्द प्रयोग को सर्वथा त्याज्य मानकर "हिन्दू" शब्द में शेव, वैष्णव, जैन, बौद्ध, सिख, आर्यसमाजी आदि सभी का अंतर्भाव है, इस सत्य का अनुसरण करते हुए बोलने-लिखने की सावधानी सभी कार्यकर्ताओं को व्यवहार में दिखानी चाहिए, यह बात उसमें आती है।

दिनांक २०.२.१९५६ को मान्यवर श्री गोविन्द वल्लभ पंत को श्रीगुरु जी लिखते है- "आपके कृपापत्र का ही उदाहरण लिया तो यह स्पष्ट होता है कि शासन में अत्युच्च पद को सुशोभित कर देश की उन्नति की चिन्ता करते हुए भी "सिख और हिन्दू" एक ही अभंग हिन्दू समाज में विघटन बढ़ाने वाले शब्द ही अनवधान से क्यों न हो, प्रयोग में लाये जाते हैं।

"राष्ट्रीयता" और "नेशनलिज्म" को पर्यायवाची माना जाता है। इस प्रथा के कारण आज कोई व्यवहारिक कठिनाई भी निर्माण नहीं हो रही है। किन्तु क्या शास्त्रीय और मौलिक विचारपद्धति की कसौटी पर यह पर्यायवाची टिक सकेगा?

शास्त्रीय पद्धति से विचार के लिए यह सोचना आवश्यक हो गया है कि जिस संकल्पनापुंज को हम "राष्ट्रीयता" की संज्ञा देते हैं वह, और पश्चिमात्य लोग जिसे 'Nationalism' कहते हैं वह इन दोनों भावनाओं में महत्वपूर्ण गुणात्मक अंतर है या नहीं? यह भी ध्यान में रखना चाहिए क्या नेशनलिज्म 'Nationalism' एक ही प्रकार की, एक ही गुण धर्म वाली भावना है? यूरोप में भी विभिन्न इतिहासिक विकासक्रमों के कारण विभिन्न देशों में विकसित समूहगत अस्मिताएं विभिन्न, प्रकार की, विभिन्न गुणधर्म रखने वाली हैं। शास्त्रीय दृष्टि से औचित्य तो इसी में था कि "एक अर्थ या अर्थच्छटा के लिए एक शब्द" के नियम के अनुसार हर देश की विशेषताओं से युक्त समूहगत अस्मिता के लिए अलग- अलग शब्द का प्रयोग किया जाता। शब्द एक और अर्थ या अर्थच्छटाएं एक से आधिक की रचना अशास्त्रीय है। श्री एल. एन. स्नायडर ने अपने 'Nationalism: Its meaning and History: Variety of Nationalism ग्रंथ में विभिन्न देशों का नेशनलिज्म 'Nationalism ' एक ही गुण धर्म का, एक ही प्रकार का नहीं हैं, इसका विवेचन किया है।

यूरोप का नेशनलिज्म (Nationalism) और हमारे राष्ट्रीयत्व के स्वरूप में जो गुणात्मक अंतर है उसका विवरण करते हुए श्री बिपिनचन्द्र पाल लिखते हैं- This being the true Hindu conception I would, therefore, describe 'Nationality' rather as the 'Personality' of a people, than following Mazzini's lead, define it as their 'individuality'.

"सेक्युलर" शब्द के विषय में भी मंत्रविप्लव का अनुभव आता है। हमारे पेशेवर सेकुलरिस्ट (Professional Securalist) इस शब्द का जो अर्थ बताते है वह उनका अपना निजी अर्थ है।

The Encyclopaedia of Social Sciences बताता है। "Secularism in the philosophical sphere may be interpreted as revolt against Theological and eventually against mataphysical absolutes and universals, in the political

sphere, it came to mean that a temporal ruler was entitled to exercise power in his hown right'.

इन सब बारीकियों का अध्ययन करने के बजाय, इन नेताओं ने अपना राजनीतिक स्वार्थ सिद्ध करने के लिए "रिलिजन" को ही इस संदर्भ में सबसे अधिक महत्वपूर्ण संघटक (Ingredient) घोषित किया और वास्तविक प्राणभूत संघटक अर्थात् "संस्कृति" को इस चर्चा से पूर्णरूपेण असंबंध रखा।"नेशनलिज्म" में "इज्म" शब्द (Suffix) है। "Nationalism" और "Internationalism" के विषय में Don Luigi Struzo लिखते है: "The 'Ism' was accepted to mean a theory founded upon those principles of qualities (according to the particular view points), or an organised activity which, adipted by some special interpretation of the principle, built up to a Theoretico-practical system, or , Finally, a Collective sentiment favouring in any way the tendancy represented by the 'ism' in question.'

"इज्म" (Ism) Suffix जोड़ने के बाद मूल अर्थ में परिवर्तन आया। यह मत प्रगट किया गया कि, "Similarly, the addition of the suffix 'ism' to 'national' has altered profoundly the original meaning of the 'nation'. The nation was originally conceived to be a community of people arganised on the basis of common geographical area, history, language, traditional and culture, but the new 'ism' endwoded it with new, excessive traits which changed the entire concept. Nationalism makes more of the nation than a mere political or cultural community."

श्री एल. एन. स्नायडर का मत है कि "The term Nationalism" is the perversion of the original word 'Nation' "Nationalism has had its own peculiar historical development.'

क्रेन ब्रिंटन (Crane Brinton) कहते है 'Nationalism is at bottom no more than the important from, the sense of beloging to an in-group has taken, in our modern western culture.'

Edward Krehbiel के अनुसार नेशनलिज्म याने "The political system of co-existing soverign states"इस मत में चेतना (Consciousness) को स्थान नहीं है।

कार्लट्न जे. एच. की दृष्टी से इस शब्द में चार अर्थच्छटाएं है :

(1)Nationalism is an actual historical process. (2) Nationalsim is a theory (3) Nationalism concerns political activities (4) Nationalism is a sentiment." Max Hilderbert Boehm दो तरह के अर्थों की कल्पना करते है: (a) a broad meaning and (b) a narrow meaning of Nationalism.

हर्बर्ट अडम्स् गिबन्स का कहना है 'Nationalism in the concrete sense may be taken to mean some particuler ways of manifesting national spirit (History, tradition, language) in the abstract sense. The ideas controlling the life and actions of a nation would be its nationalism; (Consciousness of a solidarity of privileges and obligations with all others living under the some political unit.'

डॉक्टर ई. आशीर्वादम् के अनुसार "Writers on political science are not all agreed on the precise meaning of the terms 'nation"nationality' and nationalism '

'The Third British Empire' में Zimmerin A. E. लिखते है - "Nationality, like religion, is subjective, psychological, a condition of mind, a spiritual possession; a way of feeling; thinking and living" Nationality is not a political but an educational conception. Broadly speaking if a people feels itself to be a nationality, it is a nationality. Nationality is only accidentally a political question, but primarily it is a spiritual and educational question."

"The Idea of Nationalism" में हान्स कोहेन लिखते है - "Nationalism is first and foremost a state of mind, an act of consciousness, - supreme form of group consciousness."

जार्ज पी. गूच का कथन है कि नेशनलिज्म अर्थात् "The self consciousness of a nation" "Nationalism denotes the resolve of a group of human beings to share their fortunes, and to exercise exclusive over their own action."

'The Common Weal' में एच. ए. एल. फिशर कहते है "What is essential to the growth of the national spirit ia a common history-common sufferings, common triumphs, common achievements, common memories, and, it may be added common aspirations."

नेशनलिज्म यह समूहगत अस्मिता का एक प्रकार है। वह किन-किन बातों (Factors) के कारण निर्माण होता है? ये सभी बातें सभी नेशंस के लिए पूर्णत: लागू हो सके ऐसी निरपवाद सूची बनाना क्या संभव है?

अनुभव के आधार पर यह असंभव दिखता है। "सांस्कृतिक एकता" ही एकमात्र निरपवाद बात (Factor) है। शेष बहुचर्चित बातों में से कोई भी ऐसी नहीं जो निरपवाद हो। ऐसे हर एक बात (Factor) का नेशनलिज्म (Nationalism) के निर्माण में योगदान तो हो सकता है, किन्तु इनमें से एक भी अपरिहार्य स्वरूप का नहीं है। "सांस्कृतिक एकता" के अलावा दूसरी एक ही बात ऐसी थी जो समान रूप से निरपवाद प्रतीत होती थी। वह याने "समान भूमि"। किन्तु उसमें भी दो प्रश्न उपस्थित हुए। एक तो यहूदी लोगों के बारे में। इसराइल की निर्मिति के पूर्व यहूदी लोग विभिन्न देशों में फैले हुए थे। उनकी मातृभूमि उनके हाथ में नहीं थी। एक ही (समान) भूमि सभी के श्रद्धा का केन्द्र अवश्य थी। किन्तु उस भूमि में उनका निवास नहीं था। उनको "नेशन" की संज्ञा प्रदान न करना उचित होता क्या? दूसरा प्रश्न बंजारा (जिप्सोरोया) लोगों से संबधित है। यह सभी जानते हैं कि इन लोगों में समूहगत अस्मिता उतनी ही दृढ़ है जितनी कि "नेशन" संज्ञा प्राप्त किए हुए अन्य जनसमूहों में है। किन्तु ये घुमन्तु हैं। कहीं भी स्थिर रूप से नहीं रहते। तो क्या उनको "नेशन" की प्रतिष्ठा से इसी कारण वंचित रखा जाए? या इनके लिए इसी स्तर की कोई दूसरी प्रतिष्ठा संज्ञा निकाली जाए? इन लोगों को "युनाइटेड नेशन्स ऑर्गनाइजेशन" में हमेशा के लिए अप्रतिनिधित्त (Unrepresented) रखा जाए क्या? यह प्रश्न चिन्ह है? ग्वाटेमाला समझौते के शिल्पकार तथा नोबेल पुरस्कार विजेता ऑस्कर एरियाज संचेज कोस्टारिका, होंडूरास, निकारागुआ, एल. सालूवादार तथा

ग्वाटेमाला को सामूहिक अस्मिता की दिशा में आगे नहीं बढ़ा सके। वे मध्य अमेरिका को एक नेशन नहीं बना सके।

पूर्ण रूपेण निरपवाद तथा अपरिहार्य न होते हुए भी जिन बातों का योगदान नेशनलिज्म के निर्माण या संवर्धन में होता है उन सब पर पश्चिम में अनुकूल प्रतिकूल चर्चाएं हुए हैं और वे उद्‌बोधक भी हैं।

रिलिजन और नेशनलिज्म

समूहगत अस्मिताओं के निर्माण में रिलिजन का महत्व हमेशा एक सा नहीं रहा। प्रोटेस्टेट रिफार्मेशन के पश्चात् स्पेन कट्टरवादी कैथोलिक रहा, इंग्लैड सौम्य प्रोटेस्टेट रहा, फ्रांस सौम्य कैथोलिक रहा और जर्मनी में दोनों प्रवाह चलते रहे। सत्रहवीं शताब्दी में दो प्रोटेस्टेट लोगों में-डच और इंग्लिश, व्यापार के लिए युद्ध चलते रहे। बिल्कुल प्रारम्भिक काल में रिलिजन ने महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया। यहूदियों की अस्मिता के निर्माण में रिलिजन की सबसे महत्वपूर्ण भूमिका रही। वही बात पोल, आयरिश और जापानी लोगों के बारे में भी है। ग्रीकों के जीवनमरण के संग्राम के समय ग्रीक कैथोलिक चर्च ने इनकी अस्मिता कायम रखने में बहुत सहायता की।

किन्तु कालान्तर में "नेशनहुड" की दृष्टि से रिलिजन का यह प्रारंभिक महत्व उत्तरोत्तर घटता गया। हेज (Hayes) कहते हैं 'Mostmodern nationalities manage to flourish without insisting upon uniformity of religious belief or practice.

इस्लामिक जगत में वस्तुस्थिति यह है कि शतप्रतिशत मुस्लिम देशों में इस्लाम के सभी अनुयायियों को मजहब के नाते एक सूत्र में बांधकर रखने की इस्लाम की क्षमता शून्यप्राय है, किन्तु गैर-इस्लामिक देशों पर प्रभुत्व की आंकाक्षा रखने वाले मुस्लिम राजनेता अपनी ध्ययेसिद्धि के लिए एक साधन के रूप में इस्लाम का उपयोग करते हैं। अजरबेजान-आर्मेनिया संघर्ष में यही प्रकट हुआ। लेबनॉन के संघर्ष में परिवार नियोजन विरोधी इस्लामी कानून का उपयोग किया गया। संघर्ष के प्रारंभ में लेबनॉन ईसाई बहुल था, आज वह मुस्लिम बहुल हो गया है। गैरों के खिलाफ राजनीतिक संघर्ष में एक धारदार हथियार की ही भूमिका इस्लाम की रही है।

कुल मिलाकर निःसंकोच यह कहा जा सकता है कि हेज का उपरिनिर्दिष्ट संप्रेषण आज की दुनिया में सत्य है और इस्लामी देश भी इसके अपवाद नहीं है।

कुछ यूरोपीय देशों में एक समय "अहि-नकुलवत्" संघर्षशील प्रोटेस्टंट और कैथोलिक आज शांतिपूर्वक ढंग से एकत्रित सामूहिक जीवन व्यतीत कर रहे है, और इस शताब्दी के दोनों विश्व महायुद्ध ईसाई देशों में ही लड़े गए।

एक मूलवंश

मैजिनी के अनुसार 'Race is not essential to nationality'. रेनन का कहना है 'Race is some thing wich makes and unmakes itself and has no application to politicas'। जे. एच. रोज. "Only in a very crude form does nationality depend on race.'

पिल्सबरी (Pillsbury) का कथन है कि "In the determination of national lines, in general, race is no more important."

स्विटजरलैंड, कनाडा, यूनाईटेड स्टेट्स ऑफ अमेरिका आदि देशों में विभिन्न मूलवंशों के लोग एकत्रित हैं।

एक भाषा

आधुनिक काल में नेशनलिज्म की निर्मिति में भाषा का महत्व सब देशों से अधिक पोलैंड ने प्रकट किया है। किन्तु कुछ नेशन्स में समान भाषा का अभाव भी है। स्विटजरलैंड के लोग कम से कम तीन भाषाएं बोलते हैं। नेशन की निर्मिति के लिए आवश्यक अन्य घटक सशक्त रहे तो "समान भाषा" का तत्व अपरिहार्य नहीं रहता। अल्सेस की जर्मनभाषी जनता का झुकाव फ्रांस की ओर है, न कि जर्मनी की ओर। यूनाईटेड स्टेट्स और कनाडा समान भाषी है, और एक दूसरे से सटे हुए भी है, किन्तु मिलकर एक "नेशन" बनाने की इच्छा दोनों में नहीं है।

सामान्य आर्थिक हितसंबंध

इस संदर्भ में इस बात का भी महत्व है। महायुद्ध के समय प्रतिपादित The white Australian policy ने उस देश के नेशनहुड की शक्ति बढ़ाई किन्तु इसका महत्व

आनुषंगिक, अतएव अतिसीमित है, वरना European common market के सभी सदस्य देशों को मिलकर एक ही राष्ट्रीयता (Nationality) बन जाती।

विदेशी दमनचक्र

सन् १८७० के फ्रेन्को-प्रशियन युद्ध के बाद फ्रांस में, मूर लोगों के अत्याचार तथा नेपोलियन के आक्रमण की प्रतिक्रिया के रूप में, स्पेन में बार- बार हुए विभाजन की प्रतिक्रिया के रूप में पौलैंड में और ब्रिटेन के साम्राज्यवाद के विरोध में आयलैंड में नेशनलिज्म का उदय हुआ। ऐसे और भी अन्य उदाहरण पाए जाते हैं। नेशनलिज्म की निर्मिति का यह एक महत्वपूर्ण कारण हो सकता है किन्तु यह कारण सर्वप्रमुख भी नहीं और अपरिहार्य भी नहीं है। जैसे जोसेफ बर्नार्ड, नेशनेलिटी (Nationality) में लिखते हैं :- "Oppression of group does not itself transform it into Nationality."

इस संदर्भ में विदेशियों का दमनचक्र सहायक तत्व अवश्य है। यदि अन्य संघटक विद्यमान रहे तो यह सहायक संघटक बहुत महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह कर सकता है। किन्तु केवल इसी संघटक के भरोसे "नेशन" का निर्माण नहीं हो सकता।

नवस्वतंत्र देश में सामान्य राज्य की स्थापना

साम्राज्यसत्त के विरोध के कारण नेशनलिज्म की ओर बढ़ने में सहायक होती है, किन्तु विदेशी साम्राज्य को उखाड़ फेंकने के बाद बनने वाली नवस्वतंत्र देश में सामान्य राज्य की स्थापना मात्र से "नेशनलिज्म" का निर्माण नहीं होता। Ramsay Muir कहते हैं, "Mere unity of government, however admirably wielded, will never of itself produce nationhood."

प्रभु राज्य (Sovereign State)

राज्य (State) के कारण राष्ट्रीयता (Nationality) निर्माण होती है क्या? आधुनिक राज्यों (States) को स्थैर्य प्राप्त होने के पूर्वकाल में कुछ नेशनलिज्म का जन्म हुआ था। तब नेशनलिज्म को बल प्रदान करने का कार्य राज्य ने किया था। सांविधानिक व्यवस्था तथा राजनीतिक संस्थाओं के निर्माण के द्वारा विद्यमान नेशनल चेतना को दृढ़ बनाने का काम राज्य कर सकता है। किन्तु इसका एक भी उदाहरण विश्व के इतिहास में नहीं है कि राज्य के सहारे नेशनहूड का निर्माण हुआ हो। स्विटजरलैंड के नेशनलिज्म

का इस सिद्धांत की दृष्टि से अलग से अध्ययन करके यह देखना पड़ेगा कि वह इस सिद्धांत के लिए अपवाद तो नहीं हैं।

एक नेशन, एक राज्य (Nation-State)

हमारे देश में ऐसी धारणा प्रचलित हैं कि Nation-State के विषय में पश्चिम के सभी विचारकों का एक ही मत है। किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। एक राष्ट्र-एक राज्य 'One Nation-One State का सिद्धान्त सन् १८१५ की वियना कांग्रेस में सर्वप्रथम प्रतिपादित हुआ और तत्पश्चात् उसकी लोकप्रियता बढ़ती ही गई। अपने 'Representative Government में श्री जे. एस. मिल लिखते हैं-

"Itsis in general a necessary condition of free institutions that the boundaries of government should coincide with those of nationality."

किन्तु लॉर्ड एक्टन का कहना है कि "The theory of nationality (i.e. One nation, one state) is more absurd and more criminal than the theory of socialism."

The multinationalstate is one of the Chief Instruments of civilisation."

जिमेर्न (Zimmern) लिखते है,"In the long run the theory of national state will go the way of Henry Vlll's and Luther's Theory of National Chruch,"

बर्नार्ड जोसफ नेशनलिटी में कहते हैं कि, "Nationality and the State are different conceptions, and a nationality can continue to exist even after the State has been destroyed. National and State loyalty are two different things. They can exist side by side with each either, for all thatnationality requires is freedom for cultural and social life and a certain measure of group autonomy, particulary in communal matters... The only hope of order and peace in World affairs is to be sought in the ultimate recognition of the principle that several nationalities may live to gether in harmony and co-operation within a State, each at the same time following its own national life." श्री सी. जे. एच. हेज. का विचार है "A National State is alwayss based on nationality, but a nationality may exist without a national state. A State is essentially political, nationality is primarily culturlal and only incidentially political (Essays on Nationalism)

राष्ट्रीय चरित्र और जलवायु (National Character & Climate)

मांटेस्कयू (Montesquieu) की यह धारणा थी कि नेशनल करेक्टर की निर्मिति में जलवायु (Climate) की भूमिका सबसे अधिक महत्वपूर्ण रहती है। मांटेस्कयू के अनुसार इंग्लैंड की सांविधानिक रचना वहां की जलवायु, विशेष रूप से लंदन के कोहरे के परिणामस्वरूप है। हंटिंग्टन का 'Character & Climate' प्रबंध इस विचार की पुष्टि करता है। मांटेस्कयू की मान्यता है कि भौगोलिक स्थितियों का भी नेशन की विविध संस्थाओं के विकास पर स्पष्ट प्रभाव होता है। कृषि करने के लिए तथा आक्रमण करके पराजित करने के लिए पहाड़ी क्षेत्र आधिक दुर्गम हुआ करते हैं। वहां स्वतंत्रता का मुक्त वायुमंडल स्वाभाविक रूप से पनपता है। कृषि कार्य और जीतकर अपने अधीन करने के लिए मैदानी प्रदेश अधिक सुगम हुआ करते है। वहां अधिनायकवादी (तानाशाही) प्रवृत्ति आसानी से आ सकती है।

साहित्य और साहित्यिक

नवजात नेशन अमेरिका के लोगों की मान्यता है कि नेशनल करेक्टर के निर्माण में साहित्य ओर साहित्यिक की भूमिका का असाधारण महत्व है। सन् १८३० से यादवी युद्ध की समाप्ति तक का कालखंड "अमेरिकन रिनेसेन्स" का माना जाता है। उनकी मान्यता है कि न्यू इंग्लैंड के साहित्यिक 'Brahmins' हेनरी वॅड्सवर्थ, लॉगफेलो, ऑलिवर वेडेल होम्स, जेम्स रसेल लोवेल के अतिरिक्त (Transcendentalist) राल्फ वालडो इमर्सन, हेनरी डेव्हिड थोरो, तथा अन्य साहित्यिकों के समान ही बेकर कवि. जॉन ग्रीनलीफ व्हिट्टियर तथा हेरियट बीचर स्टोव और इनके अतिरिक्त तीन कल्पनाशील साहित्यिक, हॉथार्न, मेलविले, विहटमनु एडगर अलन पो. त था थॉमस पेन की कृतियों का अमेरिकन करेक्टर की निर्मिति में उल्लेखनीय योगदान रहा है।

आधुनिक कालखंड में "नेशनलिज्म" के प्रमुख प्रवक्ता के रूप में मान्य जोसेफ मैजिनी और कोसूथ के साहित्य के बारे में भी यही कहा जा सकता है।

सीमा (Frontier)

प्रत्येक विचारक के मन पर स्थानीय तथा तात्कालिक घटनाओं का प्रभाव होता है, और वह उनके आधार पर साधारणीकरण का प्रयास करता है। उदाहरणार्थ जब सन् १८०० में अमेरिकन सीनेट ने देश की सीमा को अधिकृत रूप से मर्यादित किया तब इतिहासज्ञ

फ्रेडरिक जॅकसन टर्नर ने यह सिद्धांत प्रतिपादित किया कि अमेरिकन नेशन का केरेक्टर बनाने की प्रक्रिया को सीमा (Frontier) ने बहुत प्रभावित किया है। उसने अपनी इस स्थापना को विशुद्ध करते हुए कहा है "The role of the frontier in moulding a distinctively American character, as opposed to that of European and older East Coast cities, where social status, class hierarchy and vested interests prevailed."

फ्रेडरिक जेक्सन टर्नर का निबन्ध 'The Significance of the Frontier in American History' इसी विचार का समर्थन है।

(रोमन कैथोलिक चर्च के इतिहास में "अमेरिकनिज्म" संज्ञा का प्रयोग पोप लियो तेइसवें के दिनांक २२ जनवरी, १८९९ के परिपत्रक में सर्वप्रथम किया गया।)

साम्राज्य सत्ताओं द्वारा निर्धारित कृत्रिम शासकीय सीमाओं को विरासत के रूप में पाने वाले नवस्वतंत्र देश; चारों ओर सीमाओं की अस्थिरता वाला (a camp in the open field) जर्मनी, लचीली सीमाओं वाले बालकन देश; विवादस्पद सीमाओं वाला पोलैड; प्राकृतिक सीमाओं से सुरक्षितता का अनुभव करने वाले ताइवान तथा हांगकांग; कृत्रिम सीमाओं से विभाजित कोरिया और आयरलैंड जैसे देशों के लिए टर्नर का कथन प्रकारान्तर से लागू होता है। स्विट्जरलैंड के लिए प्राकृतिक सीमाओं का महत्व स्पष्ट ही है।

जनता की इच्छा शक्ति

मैजिनी के अनुसार "Popular will is the basis of nationalism " अँरनॉलड् टायनबीका विचार है कि "The Will to be a nation is the principal element of nationalism " डॉ बैठकर कहते हैं "It (i.e. Nationalism) is a feeling of corporate sentiment, of onenesswhich makes those who ara charged with it, feel that they are kith and kin" अर्नेस्ट रेनन की मान्यता है कि "Nation is a spiritual principle based primarily on (a) A rich heritage of memories and (b) A keendesire to live together".भौगोलिक एकता , हितसंबंधों की समानता, मजहब, भाषा या वंश की एकता के तत्वों में नेशन की जड़ें है यह मानने के लिए रेनन तैयार नहीं है। उनकी मान्यता है " people are a nation because they want to be

a nation.....a nation is a soul, a spiritual principle...To have suffered, rejoiced and hoped together makes

a people a nation... What constitutes a nation is not speaking the same tougue, or belonging to the same ethnic group, but having accomplished great things in common in the past and wish to accomplish them in future." इस संपूर्ण विचारमंथन से यह स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है, कि "नेशनलिज्म " की परिभाषा के विषय में पश्चिमी विद्वान एकमत नहीं है। उन्के ही शब्दों में इसके चार प्रमुख कारण है।

1. Inadequacy ofwords as the transmission belts of social communication.

2. The varied imlications of Nationalism it self.

3. Changes in the connotation of Nationalism with the course of history.

4. Nationalism means different things to different people. Thesaurus के अनुसार ‘Nation is citizenry, common wealth, community, country, people, population, race, realm, society, state, tribe.'

इस तरह के अस्थिर, अनिश्चित और धूमिल शब्द की नींव पर पहले लीग ऑफ नेशंस की और अब युनाइटेड नेशन्स ऑर्गनाईजेशन की इमारत खड़ी की गई है। वास्तव में दोनों संस्थाएं "नेशन्स " का संयुक्त संघ नहीं है। वे राज्यों (states) का संघ बन गई हैं। इसके कारण जो अन्तर्विरोध निर्माण हुए इसका इतिहास साक्षी है। इसका नवीनतम उदाहरण इराक के कुर्द लोगों का है, जिसका उल्लेख अन्यत्र किया गया है। स्पेन के बास्क जन (Basques) की स्थिति भी वैसी ही है। नेशन और राज्य का अन्तर न समझने के कारण कैसी हास्यास्पद स्थिति बनी है इसकी झलक इतिहास के एक श्रेष्ठ व्यक्ति के विषय में दिए गए निम्न टिप्पणी से प्रकट होती है। यूगोस्लाव्हिया के मार्शल टीटो के विषय में ये वाक्यप्रचार प्रचलित था कि 'Marshal Tito, himself a Croat, was perhaps, the first and last Yugoslav".

“नेशन " के कल्पित स्तर की समूहगत अस्मिता रखने वाले जनसमूहों की संख्या और यू. एन. ओ. के सदस्य- नेशन्स की संख्या में बहुत अंतर है। गुणात्मक अंतर तो स्पष्ट

ही है। 'पहली -श्रेणी की संख्या लगभग २, ००० (दो हजार) है, दूसरी श्रेणी की संख्या इस समय १६२ है।“

इन सब बारीकियों का अध्ययन करने के बजाय, इन नेताओं ने अपना राजनीतिक स्वार्थ सिद्ध करने के लिए ' रिलिजन ' को ही इस संदर्भ में सबसे अधिक महत्वपूर्ण संघटक (ingredient) घोषित किया, और वास्तविक प्राणभूत तत्व अर्थात् 'संस्कृति ' को इस चर्चा से पूर्णरूपेण असंबद्ध रखा।

संस्कृति

संसार में कई रिलीजन्स हैं। हर एक रिलीजन के अनुयायियों के लिए उनका अपना रिलीजन वैसे ही सर्वश्रेष्ठ तथा प्रियतम हुआ करता है जैसे हर एक व्यक्ति को उसकी अपनी माता। अतएव विभिन्न रिलीजनों की तुलना सभी को अप्रिय तथा अव्यवहार्य प्रतीत होती है। हिन्दुओं के भी कई रिलीजन हैं किन्तु "हिन्दू " नाम का कोई रिलीजन नहीं है।

उपासना-पद्धति हर एक रिलीजन का अनिवार्य अंग है। किन्तु उसके साथ ही रिलीजन के निर्माणकाल में रिलीजन के जन्मस्थान में विद्यमान परिस्थितियों के परिप्रेक्ष में समाज के जीवन की दृष्टि से उचित सामाजिक नियम तथा सामाजिक तत्वज्ञान प्रदान करना रिलीजन के संस्थापक के लिए आवश्यक हो जाता है। नियम तथा तत्वज्ञान स्थान-काल-परिस्थिति-सापेक्ष हुआ करता है। परिस्थितियों में जैसे-जैसे परिवर्तन होगा वैसे-वैसे तदनुकूल परिवर्तन इनमें भी करने पड़ते हैं। इस कारण ये सामाजिक नियम तथा तत्वज्ञान सार्वकालिक तथा सार्वदेशिक नहीं हो सकता। केवल उपासनापद्धति सार्वकालिक तथा सार्वदेशीय हो सकती है।

किन्तु इस सभी से अधिक, अतिविशाल, सर्वकष संकल्पना संस्कृति की है। राष्ट्र या नेशन का प्राण संस्कृति ही हुआ करती है। एक संस्कृति का अभाव रहा और नेशनलिज्म या राष्ट्रीयता के यूरोपियन विद्वानों द्वारा मान्य शेष सभी संघटक विद्यमान रहे, तो भी नेशन या राष्ट्र नहीं बन सकता। ग्रीस, रोम, मिश्र आदि राष्ट्र समाप्त हुए तो इसका मतलब यह नहीं था कि इन देशों में निवास करने वाले सभी लोग नष्ट हो गए। वहां रहने वाले लोग तो जीवित थे, किन्तु उनकी संस्कृति नष्ट हो गई, इस कारण यह कहा गया कि वे राष्ट्र नष्ट हो गए।

संस्कृति हमेशा एकसंघ ही रहती है। वह कभी भी मिलीजुली नहीं रह सकती। शुद्धता संस्कृति की प्रकृति है। संकरता उसकी प्रकृति से मेल नहीं खाती। यह सही है कि कोई भी समाज या राष्ट्र दुनिया में द्वीप (island) के समान अलग- थलग रह नहीं सकता। विभिन्न कारणों से हर एक समाज या राष्ट्र का अन्य समाजों या राष्ट्रों से सर्म्पक आता ही है। इस सर्म्पक के फलस्वरूप दोनों का एक दूसरे पर प्रभाव पड़ता ही है। इसी को सांस्कृतिक समागम (Cultural Intercourse) कहा जाता है। कोई संस्कृति इस समागम या संस्पर्श से मुक्त नहीं रह सकती किन्तु इस समागम के परिणामों को अपने मूल प्रकृति में आत्मसात करते हुए एकसंघ संस्कृति गंगा के प्रवाह की तरह आगे बढ़ती है। गंगा निरन्तर गतिमान है। मार्ग में उसमें स्थान-स्थान पर छोटी-बड़ी नदियां और नाले भी मिल जाते हैं। इस सबको आत्मसात करते हुए एकसंघ गंगाजी आगे बढ़ती हैं। उस प्रवाह को मिलीजुली गंगा नाम नहीं दिया जाता। हर एक हिन्दू परिवार में विवाह के माध्यम से दूसरे परिवार की लड़की प्रवेश करती है। किन्तु इस कारण उसको दोनों का मिलाजुला परिवार नहीं कहा जाता। परिवार की अपनी अस्मिता यथापूर्व कायम रहती हैं। नवागत लड़की का गोत्र, कुलाचार, कुलधर्म आदि बदल जाते हैं, और वह इस परिवार में आत्मसात हो जाती है। घुल जाती है। यही बात संस्कृति की भी है। सम्पर्क में आने वाली अन्य संस्कृतियों की ग्रहणयोग्य विशेषता को पूर्ण रूप से आत्मसात करके अपना सातत्य यथापूर्व रखते हुए संस्कृति का प्रवार निरंतर गतिशील रहता है। मिलीजुली संस्कृति की बात उतनी ही अवास्तविक है जितनी सांस्कृतिक समागम को अमान्य करने की। यह आवश्यक नहीं कि

संस्कृति का दायरा तथा रिलीजन का दायरा अनिवार्य रूप से समव्याप्त हो। जैसे एक ही रिलीजन में विभिन्न संस्कृतियों के लोग रह सकते है वैसे ही एक ही संस्कृति के दायरे में विभिन्न रिलीजनों के लोग भी रह सकते हैं। रिलीजन तथा संस्कृति एक दूसरे के सम्पर्क में आने के बाद एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। एक दूसरे पर उनकी क्रियाएं प्रतिक्रियाएं चलती रहती है। किन्तु दोनों की अस्मिताएं तथा दायरे अलग-अलग हुआ करते हैं।

यूरोपीय समाजशास्त्रियों ने नेशन के निर्माण के लिए जो आवश्यक संघटक गिनाए हैं उनमें रिलीजन का भी समावेश है। ये सभी तत्व राष्ट्रीयता या नेशनहुड (Nationhood)

की निर्मित में योगदान करते हैं। किसी भी नेशन के निर्माण के काम में आए संघटकों की संख्या जितनी अधिक होगी उसकी राष्ट्रीयता या नेशनहुड का घनत्व भी उतना ही अधिक रहेगा। किन्तु उन तत्वों में से कोई भी संस्कृति जितना अनिवार्य नहीं है।

नेशनलिज्म का उदय नेशनलिज्म का उदय यूरोप में कब हुआ, इस विषय में विभिन्न मत हैं। सामान्य धारणा यह है कि नेशनलिज्म का उदय वहां फ्रांस की राज्य क्रांति के पश्चात् हुआ।किन्तु यह सब जानते हैं कि सोलहवीं शताब्दी के प्रारंभ में फ्रांस, इंग्लैंड तथा स्पेन ने "नेशनहुड" प्राप्त किया था। सन् १२१४ की बोवाइंस (Bouvines) की लड़ाई में राजा फिलिप्स ने इंग्लैंड, जर्मनी तथा फलैंडर्स की संयुक्त सेना को पराजित किया। ऐसा माना जाता है कि वहीं से फ्रांसीसी नेशनलिज्म का प्रारंभ हुआ। सन् १४२६ - ३१ ई० के कालखंड में जोन ऑफ आर्क के नेतृत्व में फ्रांस का नेशनलिज्म चरम सीमा तक पहुंचा।

बोवाइंस की लड़ाई के एक सौ साल बाद राबार्ट ब्रूस के नेतृत्व में 'बेनाँकबर्न' (Bannockburn) के रणक्षेत्र में अंग्रेजों के विरुद्ध प्राप्त हुई विजय से स्काटलैड में नेशनलिज्म का प्रारंभ हुआ।

पंद्रहवी शताब्दी के प्रारंभ में सन् १४१२ में मूर लोगों को पराजित कर ग्रेनेडा पर कब्जा करने के पश्चात् स्पेन में नेशनलिज्म का उदय हुआ।

सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में स्पेनिश प्रभुत्व के विरोध में किए हुए विद्रोह के साथ हालैंड में उसके डच नेशनलिज्म का निर्माण हुआ।

जर्मनी तथा इटली में यह प्रक्रिया उन्नीसवीं शताब्दी में पूर्ण हुई। तब तक इटली पर फ्रांस, स्पेन और आस्ट्रिया का शासन था। स्वीडन, डेनमार्क, फ्रांस और आस्ट्रिया ने जर्मनी को खंडित कर रखा था। वैसे संकल्पना के नाते महान फ्लोरेन्टाइन विचारक निकोलो मेकियाव्हेली (१४६९ - १५२७) ने इटली के एकीकरण का विचार बहुत पहले ही रखा था।

१५वीं शताब्दी के स्वातंत्रय युद्ध ने अमरीकन उपनिवेशों में नेशनलिज्म का बीजारोपण किया। कुछ इतिहासकारों का ऐसा मत है कि वस्तुत: यूरोपीय नेशनलिज्म का प्रारंभ ९ वीं तथा १० वीं शताब्दी में हुआ। किंग एगबर्ट (King Egbert) (८०२ - ३९) द्वारा प्रारंभ की गई इंग्लैंड की एकीकरण की प्रक्रिया किंग आल्फ्रेड (८७१ - ९०१) के काल तक

जारी रही। हयूज कापेट (Hugh Capet) (९८७ - ९६) और हेनरी दि फाउलर (Henry the Fowler) (९१९ - ३६) के नेतृत्व में फ्रांस और जर्मनी में भी यह धारा चली थी। कुछ विद्वानों का दावा है कि सिकन्दर के उत्तराधिकारियों के ढाई सौ साल के प्रभुत्व के पश्चात् फिलिस्तीन में (यहूदी लोगों का) दुनिया के सर्वप्रथम नेशनलिज्म का आविष्कार हुआ।

मजेदार बात यह है कि यूरोपीय नेशनलिज्म के निर्माण तथा ध्रुवीकरण की प्रक्रिया में सम्राट/शासक (राजा) तथा राजनेताओं का बहुत बड़ा योगदान रहा। इंग्लैंड की रानी एलिजाबेंथ तथा क्रॉमवेल, जर्मनी के फ्रेडरिक दि ग्रेट तथा बिस्मार्क, फ्रांस के चोदहवें लुई तथा नेपोलियन, रूस के पीटर दि ग्रेट, ऑस्ट्रिया के जोसेफ द्वितीय, इटली के विक्टर इमेनुएल तथा काहुर इस श्रेणी में आते हैं। आज यूरोप में लोकतंत्र का बोलबाला है। इस पृष्ठभूमि में यह बात अटपटी सी लगती है कि नेशनलिज्म के मार्ग में सामंतशाही बाधक बनी हुई है और राजशाही पोषक। वास्तविकता यह है कि, ये राजा तथा राजनेता अपने समय में अपने समाज की आकांक्षाओं तथा इच्छा शक्तियों के प्रतीक बने थे।

जो कुछ भी हो, किन्तु यह निर्विवाद है कि यूरोप में नेशनलिज्म की भावना का प्रकर्ष फ्रांस की राज्यक्रांति के बाद हुआ - नेपोलियन पूर्व क्रांतिकाल में सकारात्मक (Positive) ढंग से और नेपोलियन के आक्रमणों के काल में नकारात्मक (Negative) ढंग से। यह विडम्बना ही थी कि स्वतंत्रता, समता और बंधुता की तत्वत्रयी पर आधारित फ्रांस की राज्यक्रांति की परिणति नेपोलियन में हुई और उसके विस्तारवादी आक्रमणों की प्रतिक्रिया में से विभिन्न यूरोपीय देशों के नेशनलिज्म को बढ़ावा मिला। एक साहित्यिक ने तो यहां तक कहा है कि जर्मन नेशनलिज्म का जनक सही अर्थ में नेपोलियन है, बिस्मार्क नहीं।

इतिहास विषयक निष्कर्ष निरपवाद होना कठिन है। उदाहरणार्थ, अमेरिका को सर्वप्रथम किसने खोज निकाला। ५०० वर्ष पूर्व कोलंबस ने? या कोलंबस के ५०० वर्ष पूर्व आइसलैंड के व्हायकिंग एरिकसन ने, या सातवीं शताब्दी में आयरलैंड के इमेराल्ड आइल के धर्मोपदेशक सेंट ब्रेंडन ने? Success has many Fathers, यही सत्य है।

यूरोपीय विस्तारवाद का स्वरूप

रेनेसेन्स के पश्चात् यूरोप की घुडदौड प्रारंभ हुई। मध्ययुगीन पश्चिम को 'नेशनलिज्म,' या तत्सम अन्य आधुनिक संकल्पनाओं का कोई ज्ञान नहीं था। प्रथमत: यूरोप के बाहर अब तक अज्ञात दुनिया को जानने की इच्छा निर्माण हुई। तेरहवीं शताब्दी के अंतिम चरण में मार्कोपोलो ने चीन पहुंचकर दो दशक तक वहां निवास किया। पंद्रहवी शताब्दी (१४८६) में डियाज (Diaz) केप ऑफ गुड होप की प्रदक्षिणा की तथा १४९८ में वास्को-ड-गामा ने कालीकट में प्रवेश किया सन् १४९२ की ग्रनाडा विजय के पश्चात् स्पेन के राजा के सेवक क्रिस्टोफर कोलंबस ने समुद्रयात्रा प्रारंभ की। सोलहवीं शताब्दी के प्रथम चरण में स्पनियर्ड बालबोआ पनामा के जलडमरूमध्य को पार करते हुए प्रशांत महासागर तक पहुंचा। उसके ६ साल बाद मेगेलान की पृथ्वी परिक्रमा (समुद्र मार्ग से) हुई। उसी कालखंड में कोर्टेज ने स्पेन के लिए मेक्सिको का अमेरिकन इंडियन साम्राज्य पर विजय प्राप्त कर ली।

* * * * * * * * * *

इंडियन-हिस्ट्री कांग्रेस के ५९ वें सत्र के (कलकत्ता, दिसम्बर २८-३०, १९९०) अध्यक्ष डॉ० हीरा लाल गुप्त का निम्नलिखित संप्रेक्षण विचारणीय है :-

(1) Radha Kumud Mookherji expressed the view thatthe Aryans originated in Lower Siwalikis, on the basis of the findings Barell, a noted geologist, that man and Himalayas arose simultaneously towards the end of the Miocene period and concluded thatindia can claim to be the cradle of man and also the cradle of human civilisation"

(2) "An American anthropologist of Atlanta has discovered that about 95% of the native Americans including the Mayas and Incas are descendents of a small band of pioneers who reached there from Asia 15000 to 30,000 B.C..An Indian anthropologist has ventured to suggest that the migration to Peru took place in the hoary past from Tanjore. Diwan Chaman Lal's studies in Maxico half a century back revealed

certain similarties between the Maxicans and the Indians. Dr Wakankar, who visited Maxico and some part of South America carried the same impression but has not drawn any definite conclusion in writing. These views require solid confermation by an unquestionable or least questionable evidence before they are acceptable to historiyans".

सन् १५३१ में पिजारों पेरू पहुंचे। सत्रहवीं शताब्दी में रूसी लोगों ने साईबेरिया में घुसकर प्रशांत महासागर का दर्शन किया। अठारहवीं शताब्दी में कैप्टन कुक ने ऑस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैंड के किनारों एवं उत्तर-पश्चिम अमेरिका तथा प्रशांत महासागर के अनेक द्वीपों का सर्वेक्षण किया। उन्नीसवीं शताब्दी में डैविड लिव्हिगस्टन, स्टूनले तथा स्पेक ने (ईजिप्तवाह्य) अज्ञात अफ्रीका का अन्वेषण किया। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में अमेरिकन पैरी (Peary) उत्तर ध्रुव पहुंच गए, और नार्वेजियन अमण्डसेन (Amundsen) तथा इंग्लिश स्कॉट दक्षिण ध्रुव पहुंच गए।

नये प्रदेशों की खोज के साथ ही खोज करने वाले का ध्वज तथा साम्राज्य भी वहां पहुंच जाता था।

यूरोपीय विस्तारवाद का कार्य मोटे तौर पर १५०० ई० के पश्चात् प्रमुख रूप से ४०० साल तक चलता रहा। स्पेन, पुर्तगाल, हॉलैंड, फ्रांस, बेलिजयम इंग्लैंड, इटली तथा जर्मनी आदि सभी देशों ने इस तरह के व्यापारिक तथा राजनीतिक साहस में हिस्सा लिया। तद्देशीय साधन स्रोत, बाजार (मार्केट) व्यवस्था, विजेता के नाते प्रभुता, शासकीय सत्ता तथा धर्मान्तरण इत्यादि बातों को करने का इन सत्ताओं ने प्रयास चलाया और अपनी पाश्चिमात्य सभ्यता स्थानीय जनता को देने का भी काम किया। स्थानीय जनता में से अभिजात वर्ग में अपनी संस्कृति का प्रभाव फैलाने में उनको पर्याप्त यश प्राप्त हुआ।

उत्तर अमेरिका, ऑस्ट्रलिया आदि भूभागों में मूल निवासियों के समूह दूर-दूर फैले हुए, असंगठित तथा यूरोप की दृष्टि से कम सभ्य थे। अन्य कुछ भूभागों में मूल निवासियों के समूहों की सघन बस्तियां थी, उनकी अपनी-अपनी पुरानी संस्कृतियां भी थीं, किन्तु कई कारणों से वे समूह छोटे-छोटे राज्यों में बंटे हुए थे और आपस में संघर्षरत थे। इन संघर्षो का लाभ यूरोपीय लोगों ने उठाया।

यूरोपीय विस्तारवाद ने तीन स्वरूप धारण किए। उत्तर अमेरिका, दक्षिण अफ्रीका तथा ऑस्ट्रलिया में यूरोपीय नवागतों ने मूल निवासियों को जंगलों या मरुभूमि में खदेड़ते हुए अपने ही 'यूरोपीय,' लोगों के उपनिवेश बनाए। इस भूभागों में राष्ट्रीयता (नेशनलिज्म) का विकास सहजतापूर्वक हो सका। कालांतर में विभिन्न यूरोपीय देशों में नये-नये लोग आकर बसने लगे तो इन नये लोगों को सांस्कृतिक दृष्टि से, सर्वप्रथम आकर बसने वाले यूरोपीय लोगों के साथ एकात्म करने का प्रयास किया गया, इस कार्य में कम अधिक मात्रा में सफलता प्राप्त होती गई।

भारत, चीन, जापान जैसे कुछ देशों में यह प्रक्रिया नहीं चल सकी। इन देशों के समाज सुव्यवस्थित तथा संस्कृतियां प्राचीन और दृढ़मूल थी। राष्ट्रीयता के मूल तत्व भी इन समाजों में विद्यमान थे। इन परम्परागत समाज रचनाओं तथा संस्कृतियों को नष्ट करना या वहां के सभी मूल निवासियों को पीछे खदेड़ देना आक्रमकों के लिए संभव नहीं था। ऐसे देशों में यूरोपीय लोगों ने अपने-अपने देशों का साम्राज्य स्थापित किया। इन देशों में नेशनलिज्म या राष्ट्रीयता का स्वरूप पूर्वनिर्दिष्ट देशों से भिन्न रहा।

लैटिन अमेरिका में, ब्राजील के पुर्तगीज आक्रमकों का अपवाद छोड़ दिया जाए तो शेष क्षेत्र में स्पेनिश लोगों ने वास्तविक अर्थ में अपने उपनिवेश बनाने की चेष्टा की। किन्तु यह प्रक्रिया ऐंग्लोसॅक्सन या पुर्तगाली आंगतुकों के समान नहीं थी। दक्षिणी उपनिवेशों में मूल निवासियों को अपने साथ एकात्म बनाना स्पेनिश विजेताओं के लिए बाध्यता बन गई। वे विजित लोगों के साथ घुल-मिल गए। उपनिवेशवाद का यह एक नया प्रकार बन गया। इस कारण यहां

नेशनेलिज्म (राष्ट्रीयता)का भी एक नया प्रकार विकसित हुआ।

योरोपीय साम्राज्यवाद-विस्तारवाद के चरण आगे बढ़ रहे थे। विजित लोगों में हीनता का भाव निर्माण हो रहा था। साथ-साथ असंतोष भी बढ़ रहा था। किन्तु वे विवशता का अनुभव करते थे। कभी- कभी बाहर के समाचार उनको सांत्वना देते थे। शोषित देशों के जनमानस पर समकालीन घटनाओं का भी प्रभाव पड़ता था। सन् १८६८ के पश्चात् प्रारंभ हुआ जापान का उत्थान, सन् १८९६ में एथियोविया वासियों द्वारा इटली

की सेना की पराजय हुई, सन् १९०५ में जापान ने रूस को हराया। इन घटनाओं ने यूरोपवासियों की श्रेष्ठता की छवि को मिटा दिया। फिर आयरलैंड, रूस, मिश्र, तुर्की तथा चीन में उन दिनों चले क्रांतिकारी आन्दोलनों तथा दक्षिण अफ्रीका के बोअर युद्ध ने विजित लोगों का आत्मविश्वास और भी बढ़ा दिया।

* * * * * * * * * *

अपना -साम्राज्य दृढ़ करने के लिए यूरोपीय सत्ताधारियों को कुछ ऐसे कदम उठाने पड़े जिनका नये राष्ट्रों (Nations) के निर्माण में उपयोग हुआ।

१. पहली बात थी देशों की सीमाएं निश्चित करने की। कुछ भागों में साम्राज्यों के सत्ताधारियों ने नक्शे(।शप्तस) पर केवल लकीरें खींची और इस तरह बनाई गई इकाइयों को नये देश (country) की संज्ञा प्रदान की। इण्डोनेशिया और फिलिपिन्स का निर्माण इसी तरह हुआ। Rupert Emerson अपने 'from Empire to nation' मे लिखते हैं -

"The scattered lands inhabited by the people’s ofmalay stock, including theirin the Philippines; the entire Indonesian archipelago and such part of the Malay Peninsula as were primarily Malay were not laid out by nature or originally so settled by man as to make any one political partition of them more selfevident than another. The existing frontiers are, as fare as both geography and ethnology are concerned , essentially arbitrary and reflect the limits of the colonial spheres, carved out in the conflict of Imperialisms.'

* * * * * * * * * *

१. नई 'राष्ट्रीय' सीमाओं का यह निर्धारण गवर्नर का प्रशासनिक दायित्व निश्चित करने तथा अन्य प्रतिस्पर्धी यूरोपीय साम्राज्यों के साथ सीमा-विवाद निपटाने की दृष्टि से किया गया। यह सीमा निर्धारण संबंधित प्रदेशों की जनता की परम्परागत अंतर्निहित एकता के विचार रो प्रेरित नहीं था। **

२. साम्राज्य सत्ता का दृढ़ीकरण और विजित लोगों का शोषण अधिक अच्छी तरह से चलाने की दृष्टी से साम्राज्य सत्ता के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि विजित प्रदेशों में यातायात (Transportation) तथा संचार (Communication) की सुविधाएं बढ़ाई जाएं, राष्ट्रीय मुद्रा (National currency) प्रचलित की जाए तथा अपने लिए अनुकूल प्राथमिक शिक्षापद्धति का निर्माण किया जाए। साम्राज्य सत्ता का सुविधापूर्वक संचालन करने के लिए यह सब करना आवश्यक होता है, किन्तु इसके फलस्वरूप विजित लोगों में प्रथमत: परस्पर निकटता और बाद में व्यावहारिक एकता का भाव निर्माण करने में सहायता भी मिलती है।

३. एक ही भौगोलिक इकाई में एक ही साम्राज्य के अधीन रहने वाले विभिन्न लोगों में साम्राज्य द्वारा होने वाले शोषण की प्रतिक्रिया के रूप में पारस्परिक निकटता तथा एकता की भावना निर्माण होती है। अपनी सुविधा के लिए साम्राज्य द्वारा प्रचलित की गई पाश्चिमात्य शिक्षा प्रणाली के कारण स्वातंत्र्य आदि जीवन मूल्यों का जागरण विजित लोगों में होता है। फिर वे अपनी स्वतंत्रता के लिए साम्राज्य से संघर्ष प्रारंभ कर देते हैं। स्वातंत्र्य संग्राम की सफलता के पश्चात् ये लोग उस व्यवस्था या सीमाओं की कामना नहीं करते तो उनके प्रदेशों में यूरोपीय लोगों के आने के पूर्व अस्तित्व में थी। बल्कि वे उन्हीं सीमाओं की मांग करते हैं जो साम्राज्य ने अपनी सुविधा की दृष्टि से बनाई थी। उदाहरणार्थ द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् स्वतंत्र होने के बाद इण्डोनेशिया ने सम्पूर्ण (पुराने) नेदरलैंड, ईस्ट इण्डीज पर अपना दावा जताया जिसमें ईरियन पश्चिमी न्यूगिनी का भी समावेश था, यद्यपि वहां के लोग वंश तथा संस्कृति की दृष्टि से इण्डोनेशियन लोगों से भिन्न थे।

साम्राज्यवादी देश विजित देश की जनता को एक ऐसी वस्तु मात्र मानते हैं जिसके विषय में सौदा किया जा सकता है। इसका सबसे बड़ा उदाहरण फिलिपाइन्स का है। सोलहवीं शताब्दी के मध्य में स्पेन ने फिलिपाइन द्वीप समूह पर अपना आधिपत्य जमाया। किन्तु सन् १८९८ में स्पेन-अमेरिका युद्ध में स्पेन ने अमेरिका को दान के रूप (रोमन कथोलिक) फिलिपाइन्स दे दिया। म्युनिच समझौते जैसे राजनीतिक सौदेबाजी के पीछे यही भावना रहती है। सभी पराजित राष्ट्र इसके भुक्तभोगी है। अब अमेरिका पैसे देकर डेनमार्क से ग्रीनलैंड को खरीदने वाला है। जानवरों के समान जनता को भी खरीदा जा

सकता है, इसमें जनता की इच्छा का सवाल नहीं उठता। इसी तरह अमेरिका ने नेपोलियन से लिथुआनिया को खरीद लिया था और रूस के जार से अलास्का को इस सौदे में स्थानीय जनता की सहमति का विचार भी नहीं आया।

व्यक्तिगत स्तर पर मानवता का परिचय देने वाले कुछ व्यक्ति हैं। जैसे शोषित तृतीय विश्व के विषय में आत्मीयता रखने वाले डॉ० गुन्नार मिर्दाल तथा श्रीमती अल्वा मिर्दाल, तृतीय विश्व के मरीजों को बहुराष्ट्रीय औषधि कम्पनी से बचाने के लिए अकेले लड़ने वाले स्टॅन्ले एडम्स, दक्षिण आफ्रीका के नीग्रो बालकों के प्रति वात्सल्य रखने वाली श्रीमती लिस्बेद पाम आदि। किन्तु यह केवल व्यक्तिगत स्तर पर ही रहता है।

*   *   *   *   *   *   *

४. स्वयं अपने को प्रगतिशील दिखाने की दृष्टि से जहां-जहां साम्राज्य ने आर्थिक संस्थान, राजनीतिक दल, ट्रेड यूनियन, वृत्तपत्रादि माध्यम, आदि बातों का प्रचलन होने दिया वहां- वहां ये संस्थाएं ही साम्राज्य सत्ता को उखाड़ने में सहायक हुई।

साम्राज्य सत्ताएं अपना शासन या तो प्रत्यक्ष रूप से चलाती थी या परोक्ष रूप से। जहां प्रत्यक्ष शासन रहता था वहां कुछ पुरानी परम्परागत सामाजिक संस्थाओं का लोप करके शासकों को कुछ संस्थाओं का प्रचलन किया जाता था। जैसे अंग्रेजों ने भारत में अपने ढंग की नागरिक सेवा (सिविल सर्विस) तथा न्याय व्यवस्था का सूत्रपात किया। भारत में जितना हुआ, उससे कई गुना अधिक ब्रह्मदेश (अब म्यानमार के नाम से ज्ञात) में किया गया। एक केन्द्रीय सत्ता पूरेब्रह्म देश पर थोपने के प्रयास में अंग्रेजों ने तत्रस्थ लोगों की सारी परम्परागत संस्थाएं एवं रचनाएं किस तरह अर्थहीन कर डाली इसका अच्छा वर्णन Lucian W. Pye की "Politics, personality and National Building: Burmas'search for Identity" पुस्तक में मिलता है। विद्यमान परम्परागत व्यवस्थाओं को किनारे लगाने की दृष्टि से बर्मा का उदाहरण अतिरेक का है।

अप्रत्यक्ष या परोक्ष शासन, पहले से चलते आए सत्ताधीशों, जनजाति प्रमुखों या ग्राम प्रमुखों के माध्यम से चलाया जाता था। यह पद्धति डच (Dutch) सत्ता ने इण्डोनेशिया में तथा ब्रिटिश सत्ता ने अफ्रीका के कई भागों में अपनाई थी। इस पद्धति में परम्परागत

सामाजिक संस्थाओं को बहुत कम क्षति होती थी और पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव भी कम मात्रा में होता था।

प्रत्यक्ष शासन में होने वाले शोषण और अत्याचार का कर्ता स्पष्ट रूप से ज्ञात होने के कारण उसकी प्रतिक्रियास्वरूप एक ही सत्ता के अंतर्गत आने वाले विभिन्न जनसमूहों में निकटता का भाव अल्प अवधि में निर्माण हो सकता था। अप्रत्यक्ष शासन के अंतर्गत यह निकटता तथा एकात्मता की प्रक्रिया निर्माण होने के लिए अधिक गुंजाईश नहीं रहती थी। इस शासन में परम्परागत जनजातीय (Tribe) या ग्रामों (Villages) का स्वायत्त जीवन प्राय: पूर्ववत् ही रहता था। उदाहरणार्थ "The Gold Coast in Transition में Darid E. Aptar कहते है (Tribal society of the African gold coast"was an amalagamation of family units in to larger kinship groupings in which totemic genealogy provided a major social guide" ऐसी जनजातियां (Tribes) राष्ट्रीयता या (Nationhood) की अवस्था से बहुत दूर थी और अब भी है, यह स्पष्ट है। अफ्रीका में विविध यूरोपीय देशों का साम्राज्य रहा है। किन्तु वहां विविध जनसमूहों में निकटता या एकता प्रस्थापित होने की प्रक्रिया अन्य प्रदेशों के समान नहीं हो सकी।

जनजातीयता (Tribalism) जनसमूह को राष्ट्रीयता (नेशनलिज्म) की ओर नहीं बढ़ने देती। लोग अपने को जनजाति (Tribe) का अंग मानते है, राष्ट्र (नेशन) का नहीं। इसके आधार पर पृथकतावादी राजनीतिक दल निर्माण होते है। तीस वर्ष पूर्व जनजातीयता (Tribalism) के आधार पर संगठित राजनीतिक दलों की संख्या नाइजीरिया में तीन (३) और कांगों में एक सौ बीस (१२०) थी।

जापान

जापान में जब समूहगत अस्मिता का उदय हुआ तब यूरोप में इस भावना का अभाव था। तीसरी शताब्दी में कोरिया के माध्यम से चीनी सभ्यता का जापान में प्रवेश हुआ। सातवी शताब्दी में चीन से बौद्धमत का आगमन हुआ। जापान का मूल शिन्तोमत तथा चीन सें आगत कन्फ्यूशियसवाद के साथ बौद्धमत भी शांति से सह-अस्तित्व में था। इसी

समय प्रथम यूरोपीय मेंडेज पिंटो, (Mendex Pinto) पुर्तगाली ने जापान की भूमि पर पदार्पण किया। सन् १६०३ के पश्चात् वास्तविक प्रभुत्व में आये तोकूगावा वंश के शासन काल में यूरोपीय शक्तियों ने यहां प्रवेश किया। सोलहवीं शताब्दी के अंत में स्पेनिश लोगों एवं सत्रहवीं सदी में अंग्रेजों और डचों ने जापान की ओर रूख किया। ईसाइयों का धर्मान्तरण का कुप्रयास तथा विदेशी व्यापारियों के जापान की भूमि पर आपसी संघर्षो के कारण जापानी सरकार ने ईसाई मत के प्रचार के विरुद्ध निषेधाज्ञा निकाली। ईसाई मिशनरियों को जापान छोड़ने का आदेश दिया गया। यूरोपीयों के साथ व्यापार बंद करके सन् १६३७ में वैधानिक रूप से पश्चिमी शक्तियों से संबंध विच्छेद कर दिया। उन्नीसवीं सदी के आरंभ में रूस, ब्रिटेन तथा अमेरिका ने जापान में घुसने का प्रयास किया। किन्तु वे सफल नहीं हो सके।

जिस तरह ब्रिटेन ने चीन के बंद द्वार पाश्चात्य शक्तियों के लिए खोले थे उसी प्रकार अन्तत: जापान के बंद द्वार खोल दिए गए। १८५४ के फरवरी माह में कमोडोर पेरी के जहाजों का प्रवेश, १८५४ में ब्रिटेन के साथ और १८५५ में रूस एवं अन्य देशों के साथ हुई संधियों ने तथा १८५८ में हुई जापान-अमरिका संधि ने जापान की शक्ति को क्षीण तथा जनता को क्षुब्ध कर दिया। चीन और जापान के द्वार लगभग एक सी ही परिस्थिति में यूरोपीय लोगों के लिए खुले थे। किन्तु दोनों की जनता की प्रतिक्रियाएं भिन्न-भिन्न थीं। चीन का विशाल देश पश्चिम के समक्ष पूर्ण नतमस्तक हुआ; किन्तु नन्हे से जापान देश को किसी भी मूल्य पर दास न बनाया जा सका। जनवरी १८६८ में सम्राट की मेईजी ईशीन शक्ति की पुन: स्थापना हुई। मेईजी की पुन: स्थापना ने जापानियों में उत्कट राष्ट्रभाव के उदय के साथ-साथ सामन्तशाही का अंत और राष्ट्र के बहुमुखी निर्माण का द्वार खोल दिया।

इसके फलस्वरूप १८९४-९५ में-जापान ने चीन को पराजित किया। इतना ही नहीं १९०४- ५ में रूस जैसे विशाल यूरोपीय शक्ति को भी परास्त किया। पांच सितम्बर १७०५ को पोर्ट्रस्माउथ की संधि ने सभी एशियाई देशों में एक नई राष्ट्रवादी चेतना निर्माण की।

द्वितीय महायुद्ध में धवस्त होने के पश्चात् जिस गति के साथ जापान ऊपर आया उसके कारण वह सभी गैरपश्चिमी देशों के लिए गर्व तथा आशा का स्रोत बन गया। इस बात की विशेष रूप से प्रशंसा चल पड़ी कि वैज्ञानिक तथा प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में पश्चिम का

अनुकरण करते हुए भी जापानी लोगों ने अपनी संस्कृति तथा परम्परा कायम रखी। इस शताब्दी के प्रारंभ में एक यूरोपीय महासत्ता, रूस को पराजित करने वाले प्रथम एशियाई राष्ट्र के रूप में जापान को मान्यता प्राप्त हुई थी। इस शताब्दी के अंतिम दशक मैं जापान आर्थिक क्षेत्र में अमेरिका को भी मात दे रहा है। जापान का येन, अमेरिकन डालर को पीछे खदेड़ रहा है। अमेरिका दुनिया का सबसे बड़ा ऋणगृहीता है, और जापान सबसे बड़ा ऋणदाता देश है।

इन सब बातों के कारण अश्वेत देशों में जापान के विषय में आदर की भावना निर्माण हुई है। सभी जानते हैं कि इस उत्थान के लिए सबसे बड़ी प्रेरक शक्ति जापान की परम्परागत, प्रखर राष्ट्रीयता ही है।

किन्तु इन दिनों जापान की वृत्ति सभी को रहस्यमय प्रतीत हो रही है। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात जापान कुछ समय तक अमेरिका की गुलामी में रहा। उस समय अमेरिका ने जापान और अमरीका के बीच गुरु-शिष्य जैसा संबंध होने का दावा भी किया था। आज परिस्थिति में आमूल चूल परिवर्तन हुआ है। वास्तव में अमेरिका नीचे की स्थिति में है और जापान ऊपर की। फिर भी पिछले कुछ समय से अनुभव यह आ रहा है कि आर्थिक क्षेत्र में अमेरिका पहले जैसी ही दादागिरी चला रहा है और उसकी शर्ते अस्वीकार्य होते हुए भी जापान का राष्ट्रीय नेतृत्व ऐसे अवसरों पर अमेरिका को नहीं कहने की हिम्मत नहीं दिखा रहा है।

अमेरिका के दबाव के सामने जापान बार-बार अकारण झुक रहा है। राष्ट्रीय स्वाभिमान के विषय में अब तक जापान की जो प्रसिद्धि है उससे उसका यह व्यवहार मेल नहीं खाता। इस कारण तृतीय विश्व के लिए एक नयी चिन्ता निर्माण हो सकती है। जापान के कई प्रबुद्ध लोगों के मन में यह भावना जन्म ले रही है कि उनका देश "पश्चिमी' बन गया है, और उसे इस बात का प्रमाण पत्र पश्चिमी देशों से प्राप्त होने चाहिए। ये लोग जापान का अमेरिकीकरण पसंद करते हैं। यह प्रवृत्ति कितनी मात्रा में प्रबल है इसकी जानकारी अभी प्राप्त नहीं है। यद्यपि उसे आर्थिक दृष्टि से संसार का सर्वप्रथम राष्ट्र होने का सम्मान आज भी प्राप्त हो रहा है; किन्तु यह प्रवृत्ति पनपी और बढ़ी तो जापान की राष्ट्रीयता और राष्ट्रीय सम्मान खतरे में पड़ जाना निश्चित है।

चीन का इतिहास

चीन की प्राचीन संस्कृति का इतिहास ३००० वर्ष पूर्व से प्रारंभ होता है। तभी से वहां यह मान्यता थी कि चीन सम्पूर्ण पृथ्वी का केन्द्र है और ईश्वर की इच्छा है कि चीन का सम्राट समस्त पृथ्वी का सम्राट बने। चीन वंश का राज्य ईसा पूर्व तीसरी शती में प्रारंभ हुआ। कन्फ्युशियस, लाओत्से, मैनसियस जैसे तत्वज्ञों ने संस्कृति का संवर्धन किया। बाद में ताओवाद और अभिनव कन्फ्युशियस की पूर्ति बौद्ध मत ने की। बहुभाषी होते हुए भी चीन की सभी भाषाओं की लिपि एक ही होने के कारण एकात्मता निर्माण होने में सहायता मिली।

अतीत में और आधुनिक कालखंड तक भी इस विशाल देश में कई बार राजनीतिक उथल-पुथल हुई।

समाचार पत्रों के माध्यम का प्रभाव आदि सब बातों की संकलित परिणति हुई। डॉ० सन्यत्- सेन के नेतृत्व में १९११ की सफल राष्ट्रीय राज्य क्रांति। दिनांक १. १. १९१२ को डॉ० सन्-यत-सेन ने राष्ट्रपति पद का कार्यभार संभाला। दिनांक १२. २. १९१२ को युआन-शी - काई को देश की बागडोर सौंपकर डा. सन्-यत-सेन ने राष्ट्रपति पद से त्याग पत्र दे दिया।

चीनी समाज में समूहगत अस्मिता का उदय प्राचीन काल में ही हुआ था। किन्तु बाद में शताब्दियों तक कन्फयूशियस या लाओत्से की तरह के नैतिक नेतृत्व का अभाव रहा। शासक अपने ही काल्पनिक स्वर्ग में रमते रहे। सैन्य दुर्बलता, प्रशासनिक अक्षमता तथा आर्थिक विचार दर्शन का अभाव, नेताओं की स्वकेन्द्रित विलासप्रियता, अधिकारियों का भ्रष्टाचार, विदेशियों के आगमन का स्वरूप समझने में शासकों की अक्षमता, सामान्यजन की उदासीनता, राष्ट्रीयता के जागरण का गिने-चुने क्षेत्रों और शिक्षित लोगों के बीच ही सीमित प्रभाव और विशेष रूप से डॉ० सन्-यत-सेन जैसे विश्वसनीय राष्ट्रीय नेता का अभाव आदि बातों का चीन के ऐतिहासिक विकास-क्रम पर प्रभाव पड़ा।

चीन की समूहगत अस्मिता प्राचीन तो है, किन्तु उसकी प्रकृति और भारतीय अस्मिता की प्रकृति एक जैसी नहीं है। एक श्रेष्ठ विचारक श्री अशोक मेहता का अध्ययन पर आधारित निष्कर्ष है कि भारत के व्यक्तित्व का मूलाआधार उसकी संस्कृति (Culture)

है, चीन के व्यक्तित्व का उसकी Imperial State (सामन्ती राज्य) संकल्पना है। दोनों समाजों के व्यक्तित्व (Personality) में यह अंतर है। इसके परिणामस्वरूप दोनों समाजों की राष्ट्रीयता की प्रकृति में भी अंतर है। जिसका प्रभाव दोनों समाजों के ऐतिहासिक विकास-क्रमों पर भी दिखाई देता है।

मध्यपूर्व

हिमालय रेखा से आर्कटिक तक का भूभाग- World Island का Heart land है। इस मूल मान्यता के साथ-साथ भूराजनीति की (Geopolitics) एक घोषणा ऐसी भी रही है कि 'Who rules the Middle East commands the World Island,who rules the world Island commands the world".

इस कथन ने वहां के जागृत वर्गो को स्वाभाविक से अधिक महत्वाकांक्षी तथा स्वकेन्द्रित बना दिया।

मध्यपूर्व को कुछ लोग पश्चिमी एशिया भी कह देते हैं। इस क्षेत्र में समाविष्ट देशों में इजरायल (जिसका उल्लेख अन्यत्र आया है) को छोड़कर शेष सभी देश इस्लामी हैं। साम्राज्यवाद के खिलाफ हुई प्रतिक्रिया में से तुर्की साम्राज्य के यूरोपीय क्षेत्र में सर्बिया, रूमानिया, बल्गेरिया ग्रीस आदि के नेशनलिज्म का उदय हुआ। साम्राज्य के एशियाई क्षेत्र में भी वही बात हुई। नेशनलिज्म के संदर्भ में यूरोप और पश्चिमी एशिया के इतिहास में कुछ समान बिन्दु दिखाई देते हैं। दोनों भूभागों में जनसमुदायों की समूहगत अस्मिताओं का उदय होने के बावजूद वे उभरकर नहीं आ सकीं। इसका कारण था उधर पोपसाहब का और इधर खलीफा "स्टीम रोलर,"। जैसे ही ये स्टीम रोलर हट गए, बीजभूत अस्मिताएं अंकुरित होने लगीं। यूरोप तथा पश्चिमी एशिया में भी समूहगत अस्मिताओं को बढ़ावा देने वाली मानसिक प्रक्रिया का स्वरूप एक ही था- "साम्राज्यवाद के खिलाफ जनमानस में उभरती प्रतिक्रियाएं। "

इन सामूहिक अस्मिताओं का प्रखर प्रकर्ष इधर फ्रांस की राज्यक्रांति के बाद और उधर प्रथम महायुद्ध के पश्चात् नेशनलिज्म के रूप में दिखाई देने लगा। किन्तु ये नेत्रोंद्दीपक परिणाम इसी कारण हो सके कि उनकी पृष्ठभूमि क्रमश फ्रांस की राज्यक्रांति और प्रथम महायुद्ध के पूर्व विभिन्न भूभागों में हुई ऐतिहासिक घटनाओं के कारण पहले से ही बनती आ रही थी।

हम यूरोपीय घटनाओं से परिचित हैं। पश्चिम एशिया की घटनाओं, जिनका सार संक्षेप में नीचे दिया गया है, के कारण ही विश्व युद्ध के पश्चात् राष्ट्रीय जागरण संभव हुआ।

आज जिसको राष्ट्र-राज्य (Nation - state) कहा जाता है उसके लिए इस्लाम में कोई स्थान नहीं है। इस्लाम के अनुसार पूरा संसार दो हिस्सों में बंटा हुआ है। दार-उल-इस्लाम (Dar-ul-Islam) और दार-उल-हर्ब (Dar-ul-Harb)। इस्लाम के बिल्कुल प्रारम्भिक कालखंड को छोड दिया तो दार-उल-इस्लाम की संकल्पना एक सिद्धांत (Theory) मात्र रही। सन् १२५८ में बगदाद के शासन के बाद तथा सोलहवीं शताब्दी में फारस (ईरान) द्वारा शियापंथ को नेशनल रिलीजन (National Religion) स्वीकार करने के पश्चात् एकमेव जागतिक मुस्लिम राज्य की संकल्पना समाप्त हुई और राष्ट्र-राज्य (Nation-state) के लिए रास्ता खुल गया। सामान्य मुस्लिम मानस पर एक ओर तो प्रारम्भिक एक केन्द्रीय जागतिक मुस्लिम राज्य की संकल्पना का प्रभाव है और दूसरी ओर पाश्चात्य ढंग के राष्ट्र-राज्य (Nation-State) की निर्मित की अपरिहार्यता का भी उसे भान है। मूल इस्लामी कानून की पवित्रता को भी वह मानता है, और कानून के आधुनिकीकरण की अनिवार्यता को भी।

अरब जगत

अरब जगत की दृष्टि से मुहम्मद इब्न अब्दुल वहाब का बहाबी आदोलन, सन् १७९८ में नेपोलियन का मिश्र में निवास तथा उसके द्वारा पश्चिमी आधुनिकता का मिश्र में प्रवेश, मिश्र, सीरिया, लेबनान, ईराक आदि राज्यों की अधिकांश अरब जनता का पाश्चात्य विचारों से सम्पर्क १८२० में बशीर द्वितीय द्वारा लेबनान में और १८३० में इब्राहिम पाशा द्वारा सीरिया में प्रणीत जनजागरण अभियान, बाद में स्थापित 'सीरियाई वैज्ञानिक संघ' तथा अरब देशभक्त युवकों के गुप्त संगठन का सन् १८८० का कार्य, सीरिया तथा लेबनान में स्थापित फ्रांसीसी तथा अमेरिकी शिक्षा संस्थाओं से फैली विचारधाराएं, दिनांक १. ६. १८४१ के राज्यादेश के आधार पर मुहम्मद अली द्वारा डाली गई आधुनिक मिश्र राज्य की नींव, प्रशासन से तुर्की अधिकारियों को निकालकर उनके स्थान पर अरब अधिकारियों की नियुक्तियां कर, आधुनिक ईजिप्शियन नैशनेलिज्म को मुहम्मद अली द्वारा दिया गया प्रोत्साहन , सन् १८६९ में स्वेज नहर का खुलना, सन् १८८२ में अंग्रेजों द्वारा मिश्र पर प्रत्यक्ष कब्जा, "अब-हिज्ब-उल- वतकी " संगठन, २० वीं सदी के आरंभ

में अरबी पाशा के आदोलन को उनके सहायक जगलूल पाशा द्वारा दी गई नई गति, १९०४ में पेरिस में हुई "लीग- द- ला पामी अरब" की स्थापना, महत्वाकाक्षी इब्न सौद की उपलब्धियां, साम्राज्यातंर्गत समान प्रतिष्ठा तथा अरबी भाषा की मान्यता के प्रश्न पर सन् १९०८ में युवा तुर्कों की असफलता, लेबनान में ईसाई मिशनरियों द्वारा किया गया पाश्चात्य विचारों का प्रसार, पश्चिमी व्यापारियों का आवागमन, सीरिया की साहित्यिक समिति "अल- जाइमा- अल- इमइया- अल- सुहिया" के द्वारा किया गया प्रचार, मिश्र में 'हदीकत-अल-अखबार' द्वारा चलाया गया प्रचार अभियान, मिधत पाशा के शासनकाल में ईराक में प्रकाशित विचार, लेबनान, बेरुत आदि में समाचार पत्रीय कार्य, "बल- रूसअल- बुलतानी " द्वारा अरबी भाषा में रचित विश्वकोष, इब्राहीम- अल- याजीज की राष्ट्रीय रचनाएं, जनरल जमालपाशा द्वारा १९१४ में चलाया गया दमनचक्र, नवम्बर १९१७ में बोलशेवकों द्वारा गुप्त समझौते (Sykes Picot Agreement) के प्रकाशन के कारण अंग्रेज तथा फ्रांसीसी सरकारों के विश्वघाती षड्यंत्र का रहस्योदघाटन, यहूदियों के नेशनल होम (National Home) की स्थापना के विषय में बालफोर घोषणा, सीरिया- लेबनान पर फ्रांसीसी मेंडेट तथा फिलिस्तीन, ईराक पर ब्रिटिश मेंडेट थोपने की कार्रवाई, इसके खिलाफ ईसाई बहुल लेबनान की सौम्य और मुस्लिम बहुल सीरिया की तीव्र प्रतिक्रिया- आदि बातों ने प्रथम महायुद्धोत्तर राष्ट्रवादी लहर की पूर्व भूमिका तैयार की।

ईरान

ईरान कभी भी आटोमन साम्राज्य के अंतर्गत नहीं था। सोलहवीं शताब्दी के प्रारंभ में प्रथम शाह इस्माईल ने शियापंथ को फारस राज्य का सरकारी मजहब (State Relegion) घोषित किया। कुस्तनितुनिया (Constantinople) इस्लाम पर एकाधिकार बताने वाले ऑटोमन सुलतान के लिए एक चुनौती था। इसके परिणामस्वरूप ऑटोमन साम्राज्य सुन्नीवाद का कट्टर समर्थक बन गया। ऑटोमन- फारस सीमा- विवाद में इंग्लैंड और रूस ने पहली बार सन् १८४२ में हस्तक्षेप किया, जो अगले सात दशक तक जारी रहा। सीमा- विवाद इस्लामी जगत के अंतर्गत दो सार्वभौम सत्ताओं में था। यूरोपियन देशों का हस्तक्षेप इस्लामी जगत के अन्दरूनी मामले में दखल देना था। पीटर द ग्रेट की आकांक्षा फारस की खाड़ी तक पहुंचने की थी। इसके अलावा अफगानिस्तान पर प्रभुत्व

तथा ईरान, काबुल आदि व्यापारिक तथा सामरिक महत्व के केन्द्रों पर कब्जा इन दोनों यूरोपीय सत्ताओं का लक्ष्य था। ईरान की भूमि पर इंग्लैंड, रूस और फ्रांस की आपस में रस्साकशी और तीनों का मिलकर जर्मनी के प्रवेश को रोकने का संयुक्त प्रयास इस कालखंड में ईरान का इतिहास है। १९०७ की आंग्ल- रूसी कन्व्हेन्शन ने फारस को तीन प्रभाव क्षेत्रों में बाट दिया। उत्तर पर्शिया में -रूस का और दक्षिण में इंग्लैंड का प्रभाव तथा मध्य फारस में तटस्थता का क्षेत्र था।

विदेशी सत्ताओं का फारस की भूमि पर चला संघर्ष, विभिन्न सत्ताओं ने बल प्रयोग करके जो अधिकार और रियायतें ग्रहण कर ली थी उनके कारण फारस की आर्थिक दुर्दशा, सन् १९०८ के प्रथम फारसी संविधान के क्रियान्वयन में अपयश, इन सबकी प्रतिक्रिया के कारण ईरान के राष्ट्रभक्तों में असंतोष तथा इन देशभक्त क्रांतिकारियों का दिनांक १६. ७. १९०७ को तेहरान में प्रवेश और शाह की पदच्युति की घोषणा, नए बालक शाह की अक्षमता आदि घटनाओं के फलस्वरूप नवागत पर्शिया इतना दुर्बल हो गया कि प्रथम महायुद्ध में उसने अपने को तटस्थ राष्ट्र घोषित किया तो भी वह तुर्की, रूसी और ब्रिटिश सैनिकों की युद्ध-भूमि बना और फारस की जनजातियों (Tribes) में विद्रोह की भावना भड़काने का काम जर्मनी के एजेंटों ने किया। महायुद्ध के पश्चात् लीग ऑफ नेशंस ने ईरान को अपने सदस्य नेशन की प्रतिष्ठा प्रदान की। किन्तु १९. ८. १९१९ को ईरान के मंत्रीमंडल के साथ इंग्लैंड ने जो समझौता किया वह ईरान को इंग्लैंड का पिछलग्गू बनाने वाला था। राष्ट्रभक्त "मजलिस" ने उसको ठुकरा दिया। यूरोपीय सत्ताओं के निरंतर हस्तक्षेप के कारण क्रुद्ध देशभक्त ईरानी रजा खान के नेतृत्व में एकत्रित हुए। वह ईरान का कमाल पाशा बन गया। बाद में वह पहलवी राजवंश का संस्थापक बना और आगे चलकर तानाशाह बना। किन्तु प्रथम महायुद्धोत्तर कालखंड में उसने उसी तरह की भूमिका का निर्वाह किया जिस तरह की तुर्की में कमाल पाशा ने निभाई थी।

इन राष्ट्रवादी कार्यकलापों के पीछे जिन घटनाओं की शक्तियां थी, उनमें प्रमुख थीं राष्ट्वादी नवयुवकों की गुप्त समितियां, अली मोहम्मद का "बाबीवाद " नामक संगठन, अब्बास मिर्जा द्वारा समाचार पत्रों के माध्यम से किया गया प्रचार, जमाल-उद्दीन-अल-अफगान के ओजस्वी भाषण, इंग्लैंड स्थित ईरानी राजदूत मेल्कामखां का अखबारों में

प्रचार, सन् १९०५ में सहस्रों की संख्या में ईरानियों का वस्त (धरना), सन् १९०६ में अंजुमन संगठनों द्वारा सम्राट को झुकने के लिए बाध्य करना।

तुर्की

ऑटोमन साम्राज्य के विस्तार में प्रथम बाधा सन् १६८३ में उपस्थित हुई। उस वर्ष विएना जीत लेने के प्रयास में ऑटोमन सेनाएं असफल हुई। इसके पश्चात् साम्राज्य का द्रुत गति से पतन प्रारंभ हुआ।

बहुभाषी, बहुवांशिक साम्राज्य को बांधकर रखने की क्षमता सुलतानों में नहीं रही। उनमें से अधिकांश अक्षम, विलासी और तानाशाही प्रवृत्ति के थे। इस कारण उनके विरोध में एक ओर जनता का असंतोष बढ़ने लगा और दूसरी ओर अर्थव्यवस्था, सैनिक संगठन, शांति, सुव्यवस्था की स्थिति, सामाजिक सौमनस्य आदि बातों में गिरावट आ गई। साम्राज्यान्तर्गत सम्प्रदायों के आधार पर संघ बने। १९१४ में उनकी संख्या-सत्रह थी। Capitualation संधियों के माध्यम से यूरोपीय नागरिकों को यह अधिकार प्रदान करना पड़ा कि उन पर अभियोग लगने पर उनका निवारण उनके देशों की विधि के अनुसार उनके न्यायाधीशों द्वारा होगा। सन् १८७० तक कुल अठारह (१८) देशों के साथ ऐसी संधियां करनी पड़ी। आगे चलकर विदेशी सत्ताओं के कृपापात्र देशी नागरिकों तक को उन संधियों का संरक्षण प्राप्त होने लगा। इसके कारण विदेश निष्ठ तुर्की नागरिकों की संख्या लाखों में हो गई। साम्राज्य के ७० लाख ग्रीक आर्मेनियन ईसाई नागरिकों के संरक्षक की भूमिका रूस ने ले ली। किसी विदेशी सत्ता ने प्रत्यक्ष सैनिक विजय तो प्राप्त नहीं की, किन्तु तुर्की साम्राज्य की भूमि पर व्यापारिक तथा अन्य सहुलियतों के लिए विदेशी सत्ताओं की खींचतान चलने लगी। सुलतान मुहम्मद द्वितीय द्वारा "तनाजियत" के नाम पर सुधार का प्रयास, सुलतान अब्दुल मजीद (१८३९ -६१) द्वारा नवम्बर १८३९ में रशीद पाशा को प्रेरणा से निकाला गया "हट्ट-इ-शरीफ गुलहने" का आदेश, १. २. १८५६ का "हट्ट-ए-हुमायुन" आदेश, ये सभी अधिकतर कागज पर ही रहे, उनका क्रियान्वयन नहीं हो सका। २३. १२. १८७६ को लागू किए गए "कमाल मिदहत पाशा की प्रेरणा के मिधत," संविधान की कुछ ही महीनों में अपमृत्यु के बाद सन १९०८ तक तानाशाही चलती रही।

सुलतान अब्दुल हमीद के विरोध में तुर्की तथा युरोप में गुप्त क्रांतिकारी दल संगठित होने लगे। १८६५ में "सोसायटी ऑफ यंग टर्कस" बनाई गई। उसके अलावा गोकाल्प की "एसोसिएशन फार ऑटोमन यूनियन एण्ड प्रोग्रेस" एवं "ऑटोमन फ्रीडम सोसाइटी" बनी। सन् १८८९ में इस्तांबुल केन्द्रित "कमिटी ऑफ यूनियन एण्ड प्रोग्रेस" गठित हुई। उसके क्रांतिकारी सदस्यों को "युवा तुर्क" नामाभिधान प्राप्त हुआ। युवा तुर्को का कार्यकलाप, १९०६ में सुलतान अब्दुल हमीद की क्रांतिकारियों के मुकाबले में पराजय, १९०६ -७ में वेतन के प्रश्न पर सैनिकों के विद्रोह, १७. १२. १९०८ को पार्लेमेंट के अधिवेशन में युवा तुर्को का बहुमत, २६. ४. १९०९ को पार्लेमेंट द्वारा सर्वसम्मति से सुलतान अब्दुल हमीद की पदच्युति और तत्पश्चात् सत्ता पर युवा तुर्को की पकड़ आदि घटनाओं के कारण महायुद्धोतर राष्ट्रीय जागृति का कार्य आसान हो गया। दिनांक ४. ९. १९१९ को शिवासा में बुलाए गए राष्ट्रीय सम्मेलन द्वारा ९ सितम्बर को जारी की गई "शिवास घोषणा" को तुर्की राष्ट्र की पुनर्रचना का मूलभूत दस्तावेज माना जाता है। क्रांतिकारियों का घोष वाक्य "पान ऑटोमनज्म" था। बाद में पान इस्लामिज्म और अंत में "पान तुशनिज्म" याने "तुर्कीकरण" हो गया।

इस्लाम

राष्ट्रीयता के संदर्भ में इस्लाम की भूमिका के विषय में भारत में परिस्थितजन्य संभ्रम विद्यमान है। इसी कारण निहित स्वार्थ वाले राजनेताओं ने सेक्युलरिज्म की चर्चा जोरों से चलाई है। किन्तु वह यहां हमारी चर्चा का विषय नहीं है।यहां केवल राष्ट्रीयता के संदर्भ में इस्लाम की भूमिका पर विचार करना ही हमारा प्रयोजन है। जिन देशों में मुसलमान बहुसंख्या में है या बहुसंख्य-प्राय स्थिति में हैं उनकी संख्या ४४ है। इनमें स्वाभाविक रूप से भारत की गणना नहीं होती है, यद्यपि भारत में मुस्लिम जनसंख्या लगभग १२ करोड़ है और उसके अलावा तथाकथित उपमहाद्वीप में पाकिस्तान और बंगलादेश की अलग-अलग जनसंख्या भी १० करोड़ से अधिक है। भारत मुस्लिम बहुल देश नहीं है फिर भी विश्व के मुसलमानों में से लगभग आधे मुसलमान तथाकथित भारतीय उपमहाद्वीप में निवास करते हैं।

२० मुस्लिम देश ऐसे हैं जिनमें से हर एक में मुस्लिम जनसंख्या ५० लाख से कम है। पचास लाख से ऊपर और एक करोड़ से कम जनसंख्या वाले आठ मुस्लिम देश हैं। एक

करोड़ से दो करोड़ के बीच जनसंख्या वाले छ मुस्लिम देश हैं- अफगानिस्तान, ईराक, मलेशिया, सऊदी अरब, दक्षिण यमन तथा सीरिया। दो करोड़ से तीन करोड़ के बीच मुस्लिम जनसंख्या वाले ३ मुस्लिम देश हैं-अल्जीरिया, मरक्को तथा सूडान। पांच करोड़ से छ करोड़ के बीच मुस्लिम जनसंख्या वाले ३ मुस्लिम देश हैं-मिश्र, तुर्की तथा ईरान। दस करोड़ से अधिक मुस्लिम जनसंख्या वाले ५ देश हैं-इण्डोनेशिया, नाइजीरिया, पाकिस्तान, बंगलादेश और भारत।

वास्तविकता यह है कि ईसाइयत की तरह इस्लाम भी संस्कृति नहीं, केवल एक मजहब मात्र है, यद्यपि ईसाइयत के समान ही इस्लाम की भी यह चेष्टा रही है कि वह अपने अनुयायियों की सम्पूर्ण निष्ठाओं पर एकाधिकार प्राप्त करके संस्कृति की प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकें। *

* * * * * * * * * * * *

रूस में मुसलमानों की संख्या पांच करोड़ से अधिक है। रूस की कुल जनसंख्या में १८ प्रतिशत मुस्लिम हैं। मुस्लिम जनसंख्या की दृष्टि से रूस पांचवे क्रमका देश है। मुस्लिम बहुल मध्य एशिया गणतंत्रों की सीमा से सटे हुए तुर्कीस्तान, ईरान ओर अफगानिस्तान है। साम्यवाद भी रूसी मुसलमानों को कहरवादी नेताओं के प्रभाव से पूर्ण रूपेण मुक्त नहीं कर सका। अजरबेजानी-आर्मोनी संघर्ष इसी का परिणाम है। अजरबैजान के नोगोर्नो- कारबाख क्षेत्र में ८० प्रतिशत जनसंख्या आर्मेनी ईसाइयों की है। गैर-इस्लामी तत्वों के विरोध में सभी मुसलमान-एकजुट हो सकते हैं।

किन्तु इस का मतलब यह नहीं कि म्ध्यएश्यिा के रूसी गंणतंत्रों में रहने वाले सभी मुसलमान मिलकर एक नेशन बन गए हैं। किसी नकारात्मक (Negative) बिन्दु पर संयुक्त मोर्चा बनना और भावात्मक (Positive) आधार पर नेशन बनना दोनों अलग बात है। रूसी मध्य-एशिया में अजरबेजान, कजाकिस्तान, उजबेकिस्तान, तुर्कमेनिस्तान, किरगिजीस्तान और ताजिकिस्तान, सभी मुस्लिम बहुल गंणतंत्र है।

मध्य युग के अंत तक ईसाइयत इस प्रयास में सफल रही। किन्तु रेनेसेंस के पश्चात् यूरोप में हुए नवजागरण के कारण मजहब का एकाधिकार क्षीण होता गया और दूसरी ओर यूरोप के विभिन्न समाजों की निजी संस्कृतियों के आधार पर अलग-अलग भागों में नेशनलिज्म का उदय हुआ। किन्तु इसका तात्पर्य नहीं कि नवोदित नेशन्स की जनता ने ईसाइयत को त्याग दिया।

ईसा मसीह ने कहा था कि जो भगवान का है वह भगवान को दो और जो राजा का है वह राजा को दो,'। इसी का अनुसरण करते हुए उन्होंने ईसाइयत को व्यक्तिगत और नेशनलिज्म को समष्टिगत कहा। यह ठीक है कि ईसाइयत के विरोध में हुए आक्रमणों का प्रतिकार करने या ईसाइयत का दुनिया में प्रचार करने के लिए चल रहे प्रयासों के प्रति ईसाईयों की सहानुभूति रही किन्तु निष्ठाओं का एकाधिकार ईसाइयत का नहीं रहा। निष्ठाओं में प्राथमिकता नेशनेलिज्म को मिली। यही कारण है कि इस शताब्दी के दोनों विश्व युद्ध ईसाई राष्ट्रों के बीच लड़े गए। अपनी इस दुर्बलता को पहचानते हुए ईसाइयत ने अब यह प्रयास चलाया है कि उसे संस्कृति की प्रतिष्ठा प्राप्त हो। इसलिए कुछ संज्ञाएं प्रचलित की गई। जैसे, क्रिश्चन साइंस, क्रिश्चन कलाएं, क्रिश्चन वास्तुशास्त्र आदि। किन्तु वास्तव में यह सब अस्तित्वहीन कल्पनारंजन मात्र है। क्रिश्चन साइंस नाम की कोई चीज अस्तित्व में नहीं है अस्तित्व में है यूरोपीय या पश्चिमी साइंस। यही बात कलाओं के विषय में भी है। यह मिथ्या प्रयास जानबूझकर इसलिए चलाया जा रहा है कि ईसाइयत के संस्कृति होने का मिथ्या आभास हो। यह सभी जानते है कि यूरोपीय या पश्चिमी संस्कृति तो है किन्तु ईसाई संस्कृति नाम की कोई चीज अस्तित्व में है ही नहीं। इस्लामी जगत में रेनेसांस के समकक्ष कोई प्रक्रिया नहीं हुई। इस कारण जिस तरह पोप की सत्ता क्रमश: क्षीण होती गई वैसी स्थिति खलीफाओं की सत्ता के बारे में नहीं हुई। किन्तु प्रथम महायुद्ध के पश्चात् मुस्लिम देशों में नेशनलिज्म की लहर उठने लगी। उस समय खिलाफत को भी समाप्त किया गया। खिलाफत का पुनर्जीवन हो इसीलिए महात्मा गांधी के नेतृत्व में भारत के मुसलमानों के साथ हिन्दुओं ने भी बड़ा आंदोलन किया। भारत के मुसलमानों का शिष्टमंडल तुर्कीस्तान के राज्य प्रमुख मुस्तफा गाजी कमाल

पाशा से मिलने गया। तुर्कीस्तान खिलाफत का केन्द्र था। किन्तु कमाल पाशा ने खिलाफत की पुन: प्रतिष्ठा करने के लिए भारतीय मुसलमानों के प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया। अपने सोचने की आदत के अनुसार भारतीय मुसलमानों ने कमाल पाशा को यह लालच दिया कि "आप अपने देश में खिलाफत संस्था को पुन: प्रवर्तित कीजिए, हम आपको ही दुनिया के मुसलमानों का खलीफा बनाते है' किन्तु यह प्रस्ताव भी कमाल पाशा ने ठुकरा दिया। जिस तुर्कीस्तान में खिलाफत का केन्द्र था उसके शासक तथा जनता ने खिलाफत को एक कालबाह्य संस्था घोषित किया और हिन्दू राष्ट्र के अंतर्गत आने वाले हिन्दुओं ने खिलाफत के लिए अपना सब कुछ दांव पर लगा दिया।

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् निर्माण हुई राष्ट्रीयता की लहर ने मुस्लिम देशों के मजहब के ठेकेदारों को झकझोर दिया। अब तक उनका सभी मुसलमानों की सम्पूर्ण निष्ठाओं पर एकाधिकार था।

इस एकाधिकार को चुनौती देने वाला दूसरा कोई भी श्रद्धा-केन्द्र अस्तित्व में ही नहीं था। जगह-जगह राज संस्थाएं थी। उन्होंने अपने निहित स्वार्थ के लिए मजहब के इन ठेकेदारों के साथ समझौता कर लिया था और दोनों की मिलीभगत से जनजागृति होना मुस्लिम देश में असंभव हो गया था। ऐसे समय राष्ट्रीयता की लहर के कारण मुल्ला-मौलवियों का चौंक जाना स्वाभाविक ही था।

कई मुस्लिम देश इस राष्ट्रीय जागृति के प्रभाव में आए गए। जैसे यूरोप में नवजागृत ईसाई देशों ने धर्माधिकारियों के एकाधिकार को चुनौती दी, किन्तु व्यक्तिगत उपासना पद्धति के नाते ईसाइयत का त्याग नहीं किया, वैसे ही इन नवजागृत मुस्लिम देशों के राष्ट्रीय नेतृत्व ने उपासना पद्धति के नाते व्यक्तिगत तौर पर कुरान, हदीस, मुहम्मद पैगम्बर साहब तथा इस्लाम की गरिमा को पूर्ववत् कायम रखा, किन्तु सार्वजनिक राष्ट्रीय जीवन में तब तक चल रही धर्माधिकारियों की दखलन्दाजी को अस्वीकार किया। उन्होंने अपनी-अपनी राष्ट्रीय संस्कृति के पुनर्जीवन के आधार पर अपने-अपने राष्ट्र-जीवन की पुनर्रचना करने का निश्चय किया। अपने एकाधिकार को धक्का देने वाली यह प्रक्रिया सहन करना धर्माधिकारियों के लिए असंभव था। अफगानिस्तान में अफगान राष्ट्रीयता के प्रतिनिधि अमीर अमानुल्ला को उन्होंने अपदस्थ किया। ईरान में नवजागृत युवकों में ईरान के प्राचीन गौरवशाली इतिहास, उसके प्राचीन राष्ट्र पुरुष रूस्तम, सोहराब,

जमरोद, बहराम आदि, प्राचीन पारसी साम्राज्य तथा उसकी सांस्कृतिक उपलब्धियों और सैनिक विजय के विषय में आत्मीयता उत्पन्न हुई। प्राचीन राष्ट्र पुरुषों के नाम विविध मार्गो तथा वस्तुओं को प्राप्त होने लगे। मुल्ला-मौलवियों ने इस प्रयास को कुफ्र घोषित किया; किन्तु उसे न मानते हुए राष्ट्र-भक्त लोग राष्ट्रीय जागरण का प्रयास करते रहे। निकट भूतकाल में ईरान की राजशाही ने विदेशी साम्राज्य सत्ता के प्रभाव में आकर जन विरोधी कार्य न किए होते तो खुमैनी का सत्ता में आना असंभव था।

मिश्र में भी यही प्रक्रिया चली। जगप्रसिद्ध पिरामिडों के निर्माता फरोआ राजाओं का गौरवशाली इतिहास फिर से जनता के सामने लाया गया। मजहब के ठेकेदारों ने कहा कि यह कुफ्र है; क्योंकि फरोआ राजा मुस्लिम नहीं थे। नवजागृत राष्ट्रभक्तों ने कहा कि जो मुहम्मद पैगम्बर के जन्म के पूर्व पैदा हुए वे मुसलमान कैसे हो सकते थे, इसलिए यह तर्क आधारहीन है। हम इस्लाम को, मुहम्मद साहब को, कुरान को पूर्ववत मानते है, किन्तु इस कारण हम अपनी राष्ट्रीय संस्कृति, अपने राष्ट्रीय इतिहास और राष्ट्र पुरुषों को भूल जाएं यह आवश्यक नहीं है।

*   *   *   *   *   *   *   *   *   *

* अरबी पाशा ने अरब नेशनलिज्म का नारा दिया। किन्तु इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन है कि सभी अरब लोगों की एक समूहगत अस्मिता है या नहीं। विदेशी सत्ताओं या यहूदियों के विरोध में निर्माण होने वाली नकारात्मक (Negative) एकता को क्या भावात्मक (Positive) समूहगत अस्मिता कहा जा सकता है? कुछ दशक पूर्व प्रेसिडेंट नासेर ने "अरब नेशनलिज्म" शब्द का प्रयोग किया इसलिए हमारे तथाकथित बुद्धिवादियों ने मान लिया कि इस नाम की कोई भावना आस्तित्व में होगी। यह सत्य है कि अरब एकता के लिए सतत् प्रयास चलते रहे। जून १९२६ में इब्न सौद द्वारा मक्का में बुलाई गई "सर्व इस्लामी परिषद ",सन्न १९३४ में कर्नन नकीब द्वारा प्रस्तुत योजना, २० मई १९४१ को एन्थनी ईडन घोषणा से प्रोत्साहित होकर ईराक के प्रधानमंत्री नूरी-अल-सईद द्वारा प्रस्तुत संयुक्त राज्य का प्रस्ताव, १३ नवम्बर १९४२ को मिश्र के

प्रधानमंत्री नहशपाशा द्वारा किया गया अरब एकता का आह्वान, ६ अक्तूबर १९४४ में काहिरा सम्मेलन में पारित "अरबलीग" की स्थापना का विचार आदि प्रयास असफल क्यों रहे, इसका अन्वेषण करने की आवश्यकता है। सीरिया के नेशनलिज्म के अंतर्गत लेबनान में फ्रांस समर्थक उप-नेशनलिज्म कैसे निर्माण हुआ, यह विचारणीय है।

हो सकता है कि "अरब नेशनलिज्म" नाम की भावना सभी अरब लोगों में विद्यमान हो, किन्तु व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा रखने वाले अरब जगत में विभिन्न सत्ताधीशों की आपसी स्पर्धा एकता में बाधक सिद्ध होती है। यह भी हो सकता है कि अरब लोगों में नेशनलिज्म का उदय तो हो चुका हो, किन्तु यह नेशनलिज्म अर्थात् सभी अरब लोगों की मिलकर एक समूहगत अस्मिता के स्वरूप का न होकर अरब जगत के विभिन्न क्षेत्रों में स्थानीयता के आधार पर विभिन्न सामूहिक अस्मिताओं का उदय के स्वरूप का तो गया हो। यह बात तो स्पष्ट है कि एकता के प्रयासों की पहल करने वाले हर एक नेता के मन में यह भावना थी कि दुनिया के सभी अरब लोग एक झण्डे के नीचे संगठित हों, किन्तु वह झण्डा और किसी का नहीं मेरा हो। अरबलीग के सदस्य के नाते २१ नेशन हैं, इसका अर्थ क्या है?

इसका पूरा अन्वेषण किए बिना अरब जगत में उदित नेशनलिज्म के बारे में कुछ भी निष्कर्ष निकालना अपरिपक्वता होगी। खासकर वह देखते हुए कि हाल ही में अरबी तथा इस्लामी जगत के अद्वितीय नेतृत्व का दावा करने वाले ईराक में तरह-तरह के आंतरकि संघर्ष विद्यमान है-इराकी, कुर्द तथा तुर्क समूहों के, सुन्नी और शियाओं के और नागरी तथा घुमन्तुओं के संघर्ष सर्वविदित हैं। ईराक को "नेशन" की प्रतिष्ठा लीगऑफ नेशंस ने अक्तूबर १९३२ में प्रदान की थी। यू.ए.आर. बनने के पूर्व संयुक्त राष्ट्र संघ के अनुसार सीरिया और मिश्र दो नेशन थे। यू. ए.आर. के निर्माण के पश्चात् दोनों मिलकर एक "नेशन", माने गए, किन्तु "अरब फेडरेशन" के गठन के बावजूद यू. एन. ओ. ने ईराक और जोर्डन दोनों को दो पृथक नेशन के नाते मान्यता दी। यू.एनओ. की 'नेशन' की संकल्पना कितनी अशास्त्रीय है, यह इससे स्पष्ट होता है। जिंबाब्वे और नामीबिया के पश्चात् भी नेशन की मान्यता प्रदान करने की दृष्टि से कुछ स्थिर कसौटियां अभी भी निश्चित नहीं है।

इस तथ्य के अन्वेषण की दृष्टि से (कालातिक्रम स्वीकार किया तो) प्रेसिडेंट नासेर का

उदाहरण बहुत उद्‍बोधक होगा। नासेर ने तीन सिद्धांतों का प्रतिपादन किया। अरब नेशनलिज्म, सर्वअफ्रीकीवाद और सर्वइस्लामवाद के वे स्वयं घोषित मसीहा बन गए। किन्तु उनका वास्तविक उद्देश्य था'सर्व नासेरवाद '। अपनी राजनीतिक आकांक्षा की पूर्ति के लिए ही उन्होंने इन तीनों सिद्धांतों का उपयोग किया था, यह कालान्तर से स्पष्ट हुआ। नासेर ने अपने देशवासियों को कहा "We are in Africa.The people of Africa will continue to look up to us,who guard the Northern gate of the continant and who are its connecting link with the world out side" किन्तु न अफ्रीका के अन्य देशों ने ऐसी भावना मिश्र के बारे में प्रकट की और न नासेर ने ही इस दृष्टि से कोई सर्वअफ्रीकन कदम उठाया।

अरब नेशनलिज्म के बारे में भी इनका दावा इसी तरह का था। ९ फरवरी १९५८ को मिश्र और सीरिया ने 'संयुक्त अरब गणराज्य ' की स्थापना की। तत्पश्चात् नासेर ने सीरिया का 'मिश्रीकरण' (Egyptianisation) करने का प्रयास किया। इसकी प्रतिक्रिया में विद्रोह हुआ और ३ अक्तूबर १९६१ को सीरिया मिश्र से अलग हो गया। इसके पूर्व "युनाइटेड अरब रिपब्लिक" के साथ यमन को एक शिथिल महासंघ में मिलाकर नासेर ने ८ मार्च १९५८ को "युनाइटेड स्टेट्स " की घोषणा की। २६ दिसम्बर १९६१ को यमन मिश्र से अलग हुआ। १४ फरवरी १९५८ को निर्मित ईराक- जोर्डन की "अरब फेडरेशन " नासेर को चुनौती देने लगा था।

सम्पूर्ण मुस्लिम जगत का नेता बनने की आकांक्षा से नासेर सर्वइस्लामवाद का प्रवक्ता बन गया, किन्तु तुर्की, ईरान तथा पाकिस्तान उसके बहकावे में नहीं आए। यह स्वाभाविक ही था; क्योंकि उसका उद्देश्य इस्लाम का मजहबी संवर्धन करना नहीं था। नासेर ने कहा 'Going to kaaba should never be a passport to heaven; after a lengthy life. Neither should it be a simple effort to buy indulgencies after an eventual life. Thepilgrimage shuold be a great political power.' उद्देश्य स्पष्ट है, वह महजबी नहीं, विशुद्ध राजनीतिक है। इस्लाम के प्रति उनकी निष्ठा कितनी लचीली थी, यह बाद में प्रकट हुआ। सन् १९५६ के संविधान में इस्लाम को राज्य का मजहब (State Religion) घोषित किया गया था। किन्तु १९५८ के नये संविधान में

इस्लाम का उल्लेख नहीं था; क्योंकि सीरिया में ईसाई बड़ी संख्या में थे। अत: राजनीतिक सुविधा के लिए नासेर तुरन्त 'सेक्युलर' बन गये, और इस्लाम को संविधान से विस्थापित कर दिया। आगे चलकर उन्होंने 'अरब समाजवाद ' का भी नारा दिया। १९६२ में सउदी अरब, यमन, सीरिया, जोर्डन और ईराक नासेर से नफरत करने लगे थे और कुवैत, सूडान तथा लीबिया भी उनके प्रति अविश्वास करने लगे।

नासेर, इब्न सौद, फैसल कासिम, जैसे महत्वाकांक्षी राजनेता किसी भी 'वाद' की घोषणा अपने स्वार्थ की सिद्धि तथा पैट्रोल के लिए कर सकते थे; किन्तु अब तक इसका शास्त्रीय ढंग से विचार नहीं हुआ कि सभी अरब मिलकर एक राष्ट्र है या अरब जगत में विभिन्न राष्ट्र विद्यमान हैं और इन राष्ट्रीय अस्मिताओं का विद्यमान शासकीय ईकाइयों से अनिवार्य रूप से सत्यापित सम्बंध नहीं है। *

* * * * * * * * *

** यू . एन. ओ. के मापदण्ड से कोरिया एक नेशन है या दो। गुरुदेव रवीन्द्र नाथ ठाकुर ने कहा था 'Korea is a lamp that has for long enlightened the world and shall continue to do so.' कोरियाई लोगों का निकटवर्ती जापानी या चीनी लोगों ने साधर्म्य नहीं है। सियोल से बुडापेस्ट तक एशिया-यूरोप का अतिक्रमण करने वाले हूणों के ये वंशधर है। इनकी भाषा फिनो उग्रीय परिवार की है। उनका कहना है कि कोरियन भाषा हंगेरी की भाषा से अधिक सादृश्य रखती है, न कि चीनी या जापानी भाषा से। उनका संगीत भी हंगेरियन संगीत के अधिक निकट है।

सन् १९१० से १९४५ तक जापानी उपनिवेशवाद ने कोरिया की संस्कृति को नष्ट करने के प्रयास किए। यहां तक कि शिक्षा संस्थाओं, शासकीय कार्यालयों और सार्वजनिक स्थानों पर कोरियन भाषा का प्रयोग करने पर प्रतिबंध लगाया गया; फिर भी जापान कोरियन संस्कृति को नष्ट नहीं कर सका। बीस लाख कोरियन लोगों का बलिदान लेने वाले कोरियन युद्ध और साम्यवाद के आक्रमण के बावजूद कोरिया ने अपनी स्वतंत्र

पहचान कायम रखी है, यू. एन. ओ. किसी भी मापदण्ड का प्रयोग करे इसमें कोई अन्तर नहीं पडता।**

तुर्कीस्तान में यह संघर्ष और भी तीव्र रहा। तुर्कों ने कहा कि हम व्यक्तिगत रूप से उपासना पद्धति के नाते इस्लाम को पूरा सम्मान देते है। हम मस्जिद में जाते है, कुरान पढ़ते हैं किन्तु यह तर्कसंगत नहीं है कि इस्लाम के नाम पर, इस्लाम का बहाना लेकर हमारी तुर्की राष्ट्रीय संस्कृति पर अरबी संस्कृति द्वारा किया गया आक्रमण भी सहन कर लें। अरबी भाषा का तुर्की भाषा पर अरबी रीति-रिवाजों का तुर्की रीति-रिवाजों पर आक्रमण नहीं होने देंगे। उन्होंने तुर्की भाषा में से सभी अरबी शब्दों को निकाल कर अपनी भाषा का शुद्धीकरण किया। पर्दा आदि अरबी रीति-रिवाज भी समाप्त किए। श्री गोआकआल्प के नेतृत्व में तुर्कीकरण का अभियान चला। इसके अंतिम चरण में कुरान का तुर्की भाषा में भाषांतरण करने का कार्यक्रम रखा गया तो मुल्लाओं ने इराका विरोध किया। तुर्की राष्ट्रभक्तों ने उत्तर दिया कि हम कुरान पढ़ना चाहते है; किन्तु यह कहना कहां तक उचित है कि अल्लाह को केवल अरबी भाषा ही समझ में आती है और वही बात यदि तुर्की भाषा में कही तो वह समझ नहीं पाएगा। जिस शुक्रवार को तुर्की भाषा में कुरान पढ़ने का पहला कार्यक्रम हुआ उस दिन पूरे तुर्कीस्तान में राष्ट्रभक्तों और मजहब के ठेकेदार के बीच सड़कों और गलियों में संघर्ष हुआ। इस्तांबुल तथा अन्य कई शहरों के रास्तों पर खून बहने लगा।*

*   *   *   *   *   *   *

सन् १९२० में ग्रैण्ड नेशनल असेंब्ली का प्रथम अधिवेशन मुस्तफा- कमाल पाशा की अध्यक्षता में अंकारा में हुआ। इस ग्रैण्ड नेशनल असेंब्ली ने ३ मार्च १९२४ को खिलाफत को समाप्त किया। २० अप्रैल १९२४ को तुर्की का संविधान पारित किया गया। इस संविधान की धारा २ में इस्लाम को राज्य का मजहब (State-Religion) घोषित किया था। १९२८ में यह धारा संविधान में से निकाल दी गई। इसके बाद "पान-इस्लामिज्म" के स्थान पर "पानतुरानिज्म" तुर्की का बोध वाक्य हुआ। "पान- तुरानिज्म" याने तुर्कीकरण का अभियान। इसके पूर्व सन् १९२५ में बहुपत्नी प्रथा को अवैध घोषित किया गया और उनके स्थान पर समयानुकूल कानून बनाया गया जिसमें Swiss Civil

Code, German Commercial Code & Italian Panel Code के उपयुक्त भाग समाविष्ट किए गए। सिविल मैरिज को अनिवार्य बनाया गया। सन् १९२८ में अरबी लिपि को अवैध घोषित किया गया और रोमन लिपि को स्वीकार किया गया। सन् १९३४ में महिलाओं को मतदान का अधिकार दिया। यह बात इस्लाम से मेल खाने वाली नहीं थीं। सन् १९३५ में शुक्रवार के स्थान पर रविवार को साप्ताहिक छुट्टी का दिन घोषित किया गया। यह ध्यान में रखने योग्य बात थी कि ऑटोमन साम्राज्य के इस्लामी किन्तु गैर तुर्की प्रदेशों को कमाल पाशा ने अपने नवनिर्मित तुर्की में समाविष्ट नहीं किया। ऑटोमन साम्राज्य की "पान-इस्लामिज्म," की घोषणा साम्राज्य के इस्लामिक किन्तु गैर तुर्की लोगों को वश में करने में असफल हुई। आज का तुर्क नागरिक अपने आपको 'तुर्क' कहने में अधिक गौरव अनुभव करता है, न कि 'मुस्लिम' कहने में।

* * * *

उल्लेखनीय है कि नव राष्ट्रीय चेतना से युक्त लोगों को मुस्लिम देशों में भी मुल्लाओं के साथ वैसा ही संघर्ष करना पड़ा जैसा भारत के राष्ट्रभक्तों को करना पड़ रहा है। रिलीजन के कारण राष्ट्रीयता के साथ बखेड़ा तभी निर्माण होता है जब रिलीजन अपनी वास्तविक मर्यादाओं को लांघकर राष्ट्रीय जीवन में हस्तक्षेप करना प्रारंभ करता है।*

* मलेशिया में महाथिर-बिन-मोहम्मद की पंथ-निरपेक्ष सरकार चल रही है। वहां कट्टरपंथी "सर्व-इस्लामवाद" का प्रचार करने वाली आल मलाया मुस्लिम पार्टी को जनसमर्थन प्राप्त नहीं हो रहा है। वित्तमंत्री अनवर इब्राहीम के नेतृत्व में चल रहे जनजागरण के अभियान में लोगों को समझाया जा रहा है कि "शरियत इस्लाम नहीं है, वह तत्कालीन अरबी समाज का कानूनी विधान है, जो आज कालबाह्य हो चुका है। भूख, गरीबी आदि महत्वपूर्ण बातों पर ध्यान केन्द्रित न करते हुए शरियत का सवाल उठाना याने गरीब मुसलमानों को गुमराह करना है। अलजीरिया में भी इसी तरह का द्वंद चल रहा है। '*

* * * * *

इण्डोनेशिया में ऐसा हस्तक्षेप नहीं है। इसी कारण ९५ प्रतिशत मुस्लिम जनसंख्या होते हुए भी वहां हिन्दू संस्कृति का अनुसरण चल रहा है। चीन में ९० प्रतिशत लोग एक ही

अर्थात् "हान" वंश के हैं। बाकी १० प्रतिशत में विभिन्न ५५ जनजातियों के लोग आते हैं। चीन के सभी परिवार मजहब के आधार पर नहीं, वंश या जनजाति के आधार पर चल रहे है। वहां एक ही परिवार में विभिन्न सदस्य विभिन्न उपासना पद्धतियों का अनुसरण करते हैं। -वहां उपासना पद्धति को विशुद्ध व्यक्तिगत बात मानने के कारण उनके पारिवारिक जीवन में कोई बाधा नहीं आती। वहां जनगणना के समय गिनती का आधार मजहब नहीं, वंश होता है। इस कारण "अल्पसंख्य," की परिभाषा भी मजहब के आधार पर नहीं, वंश के आधार पर की जाती है। चीन की सर्वोच्च प्रतिनिधि संस्था में जो मुसलमान हैं वे वहां मुसलमानों के प्रतिनिधि होने के नाते चुनकर आए हुए नहीं होते, अपितु अपने-अपने वंश के प्रतिनिधि के नाते अपने ही वंश के अन्य पंथीय प्रतिनिधियों के साथ वे सर्वोच्च प्रतिनिधि संस्था में प्रवेश करते हैं। हमारे देश में यह जानकर लोगों को आश्चर्य होगा कि चीन में इस्लाम, बौद्ध और ईसाइयत आदि के अनुयायियों की कुल संख्या कितनी है इसके आंकड़े चीनी सरकार के पास नहीं हैं।

पश्चिम के लोकतांत्रिक देशों में इस्लामी कट्टरपंथी विचार चल नहीं सकता। सल्मान रूश्दी के विरुद्ध खुमैनी का फातवा इन देशों को अनुचित प्रतीत हुआ। यह भी स्पष्ट है कि इस्लामी कट्टरवाद किसी भी लोकतांत्रिक पश्चिमी देश में यदि सिर उठायेगा तो उसका उचित प्रतिवाद वहां की जनता के द्वारा अवश्य किया जाएगा।

साम्यवादी जगत में अल्बानिया एक मात्र मुस्लिम बहुल देश था। विश्व में यह पहला देश था जिसने स्वयं को "नास्तिक," घोषित किया।

रूस में मध्य एशिया के जो मुस्लिम बहुल गणराज्य थे, उनमें कट्टरवाद प्रवेश कर रहा है। आरमेनिया का संघर्ष उसका एक संकेत है। इस कट्टरवाद के प्रति रूस की अधिकृत प्रतिक्रिया उल्लेखनीय है। नवम्बर १९८६ में अपने ताशकंद भेंट में गोर्बोचेव ने इस्लाम को 'An instrument for the spritual oppression of the workers and subject-tion ofthe people of the east'. घोषित किया और अपने अनुयायियों से अनुरोध किया कि वे मस्जिदों में न जाएं। यह भी घोषित किया गया कि मजहबी समुदायों को नेशनलिटीज के समकक्ष नहीं माना जासकता। *

* * * * *

हमारे देश में कई लोग ऐसा मानते हैं कि रूस के मध्य एशिया के सभी इस्लामी गणतंत्र मिलकर मानसिक दृष्टि से एक इकाई बन गए होंगे। किन्तु वैसी बात नहीं है। परिस्थितिजन्य संघर्ष में सभी की नकारात्मक एकता होना बात अलग है, किन्तु सामान्यत: सभी गणतंत्र अपनी-अपनी पृथक अस्मिता रखते हैं। हर एक गणतंत्र में भी समूहगत अस्मिता पूरी तरह विद्यमान नहीं है। उदाहरणार्थ, उजबेकिस्तान में कई नेशनलिटीज हैं, कई भाषाएं चलती हैं। उज्बेक लोगों की बहुसंख्या है, किन्तु उनके अलावा ताजीक, तातार आदि दर्जनों अन्य नेशनलिटीज भी उस गणतंत्र में हैं। पहले उज्बेक लोग अपनी भाषा अरबी लिपि में लिखते थे। किन्तु उजबेगी भाषा की ठीक अभिव्यक्ति के लिए वह लिपि अपर्याप्त प्रतीत हुई। इसलिए नई वर्णमाला विकसित की गई, जिसका आधार प्रथम लेटिन और बाद मैं रूसी लिपि रही। अन्य गणराज्यों में भी कम-अधिक मात्रा में इसी तरह की स्थिति है। *

* * * * *

वास्तविकता यह है कि परिस्थिति के दबाव के कारण ऐतिहासिक घटनाओं का ठीक ढंग से अर्थ लगाना भी हमारे नेताओं के लिए असंभव हो गया। संस्कृति राष्ट्रीयता की आत्मा है, और इस्लाम संस्कृति नहीं है, इसी कारण पाकिस्तान (सिंध) के श्री जी. एम. सैयद ने स्पष्ट रूप से घोषित किया कि हमारी यह धारणा गलत थी कि इस्लाम के आधार पर राष्ट्र-निर्माण हो सकता है। ढाका ने इस्लामाबाद के खिलाफ युद्ध की घोषणा की तो उसी क्षण यह तथ्य संसार की समझ में आ गया। वस्तुत: इस्लाम के अंतर्गत आने वाली विभिन्न राष्ट्रों या जनजातियों की अपनी-अपनी संस्कृति या सामूहिक विशेषताएं हैं। वही उनकी सामूहिक अस्मिता का आधार है। इस्लाम कहीं भी सामूहिक या राष्ट्रीय एकता का आधार नहीं है। यह सही है कि विभिन्न देशों के मुस्लिम या गैर मुस्लिम राजनेता अपने राजनीतिक स्वार्थ की सिद्धि के लिए इस्लाम के नाम का उपयोग करते हैं; किन्तु वे इस्लाम के वास्तविक प्रवक्ता नहीं है। अबुल-आला मौदुदी का यह कथन सुविदित है कि पाकिस्तान के निर्माण का आंदोलन करने वाले मुस्लिम नेता पश्चिम से प्रभावित थे। वे इस्लाम के सही प्रतिनिधि नहीं थे। भारत पर समय-समय पर हुए आक्रमण विस्तारवादी अरब, तुर्की, पठान और मुगल राज नेताओं के आक्रमण थे। ये राजनेता इस्लाम के अधिकारी पुरुष नहीं थे, यद्यपि यहां अपने-अपने शासन की लॉबी

खड़ी करने की दृष्टि से उन्होंने इस्लाम का उपयोग किया। आजकल बहुचर्चित बाबर भारत में इस्लाम को बचाने के लिए आया था क्या? यदि ऐसा होता तो यहां आते ही उसका पहला संघर्ष किसी हिन्दू शासक के साथ हुआ होता; किन्तु उसकी पहली लड़ाई इब्राहिम लोदी के साथ हुई और बाद में हुई लड़ाइयां जैसे हिन्दू शासकों के विरुद्ध हुई वैसी ही अफगान शासकों के विरुद्ध भी हुई। भारत पर आक्रमण करने वाले इन चारों समूहों के राजनेताओं का उद्देश्य राजनीतिक विस्तारवाद ही था और इसके लिए वे आपस में भी उतने ही उत्साह से लड़ते थे जितने उत्साह से हिन्दुओं के साथ। अपने राजनीतिक स्वार्थ के लिए "शिया बनाम सुन्नी" विवाद का उपयोग करने में उन्होंने कोई हिचकिचाहट नहीं की। यह एक शास्त्रीय अन्वेषण का विषय है कि इस्लाम के नाम पर हुए कितने संघर्ष उपासना पद्धति के लिए थे और कितने राजनीतिक स्वार्थों के लिए।

प्रकृति का नियम है "एक संस्कृति-एक राष्ट्र "। इसी कारण ईसाई देशों में भी आपसी संघर्ष पाए जाते हैं और मुस्लिम देशों में भी। जिसको इस्लाम का त्राता होने का सम्मान इतिहास ने दिया है उस गाजी सलाउद्दीन के वंश "कुर्द" के खिलाफ सद्दाम हुसैन वर्षों से दमन की क्रूर कार्रवाई करते आ रहे हैं, और उसी सद्दाम हुसैन को भारत के मुसलमान "इस्लाम का रक्षक " घोषित करते हैं। इस अत्याधुनिक घटना से यह प्रकट होता है कि इस्लाम विषयक राजनेताओं का प्रचलित चिन्तन कितना अशास्त्रीय है।

इस्लाम राष्ट्र के निर्माण का आधार नहीं बन सकता, इतना ही नहीं इस्लाम अपने ही अनुयायियों को सुसंगठित रखने में भी असमर्थ सिद्ध हुआ है। हमारे देश में कई विचारक मुस्लिम कट्टरवाद से चिन्तित हैं। वास्तव में यह चिन्ता का विषय नहीं होना चाहिए। क्योंकि मुस्लिम कट्टरवाद भी विभिन्न प्रकार का है। सभी कट्टरवादी एक ही समूह में नहीं है। शिया कट्टरवादी और सुन्नी कट्टरवादी एक दूसरे के विरोध में है। भारत के सुन्नी कट्टरवादियों में भी मौदुदी का पंथ और फजलुर रहमान के अनुयायी परस्पर विरोधी हैं। ये दोनों तरह के कट्टरवादी पाकिस्तान तथा भारत के मुस्लिम राजनेताओं को इस्लाम का प्रतिनिधि मानने के लिए तैयार नहीं है। भारत का सर्वसाधारण मुसलमान मूलत: इस भूमि की संस्कृति के साथ रिश्ता तोड़ना नहीं चाहता, यद्यपि राजनेताओं के बहकावे में आकर वह राष्ट्रविरोधी कार्यवाही करने के लिए तैयार हो जाता है। अपने ही अनुयायियों को एकत्रित रखने में इस्लाम किस तरह असमर्थ है इसका प्रत्यक्ष उदाहरण

पाकिस्तान प्रस्तुत करता है। पाकिस्तान का निर्माण ही इस्लाम के नाम पर हुआ था; किन्तु वहां के सभी मुसलमान एकत्रित नहीं रह सके। लखनऊ की तरह कराची तथा अन्य नगरों में शिया-सुन्नी दंगे चलते रहते हैं। इस शताब्दी के सातवें दशक में हजारों की संख्या में बलूची मुस्लिमों का संहार किया गया। ११५३ में पंजाब में रहने वाले अहमदिया मुस्लिमों का हजारों की संख्या में कत्ल हुआ। सन् १९७९ में जकात आदि इस्लामिक कराधान के विरोध में पाकी शियाओं ने संघर्ष किया। सन् १९७१ में हुआ लाखों बंगाली मुस्लिमों का नरसंहार जग प्रसिद्ध है। पाकिस्तान में शिया, दाउदी बोहरों और आगाखानी खोजों की संख्या १५ प्रतिशत है। ये सब स्वयं को असुरक्षित मानते हैं। सिंध, पाख्तूनिस्तान तथा बलूचिस्तान ने पाकिस्तान से पृथक होने की इच्छा घोषित की है। सिन्धी, पंजाबी, सुन्नी-आगाखानी खोजे, सुन्नी कादियानी, शिया-सुन्नी, पठान-पंजाबी बलूची-पंजाबी संघर्षो में मुहाजिरीनों के विरुद्ध अफगानी निर्वासितों के बीच संघर्ष भी जुड़ गए है।

भारत से पाकिस्तान गए उर्दू भाषा-भाषी मुहाजिरीनों की संख्या एक करोड़ से अधिक है। पाकिस्तान के सिंधी, पंजाबी, पठान तथा बलूचियों के साथ उनका संघर्ष पूरे पाकिस्तान में प्रखर होता जा रहा है। ये सभी इस्लाम के अनुयायी हैं।

सामयिक, परिस्थितिजन्य उत्तेजनाओं से मन को मुक्त करें तो सहज ही यह तथ्य ध्यान में आ जाएगा कि मजहब और संस्कृति में अन्तर क्या है? वैसे तो हिन्दू द्वेष के आधार ही पाकिस्तान के शासक अपनी गद्दी कायम रख सकते हैं और इस दृष्टि से हिन्दू विरोधी अभियान उनकी राजनीतिक आवश्यकता है, वहां हिन्दुओं पर अत्याचार होते रहते हैं; किन्तु इसका मतलब यह नहीं कि हिन्दू सांस्कृतिक प्रभाव से पाकिस्तान पूर्ण रूप से मुक्त हुआ है। गुजराती खोजे मेमन, बोहरे अभी भी हिन्दू संस्कृति की परम्पराओं का पालन करते हैं। सिंध में राजादाहिर की स्मृति का सम्मान तथा पाकिस्तान में अधिकृत रूप से पाणिनी की अपने पूर्वज के नाते गौरवपूर्ण सुप्रसिद्धि इसका प्रमाण है। श्री मुजफ्फर हुसैन अपने "मुस्लिम मानस" में बताते हैं कि मलिका-ए-तरन्नुम नूरजहां अपनी कृष्ण-भक्ति के कारण विवाद का विषय बनी थीं, किन्तु पाकिस्तान के आगाखानी खोजे प्रकट रूप से कृष्ण भक्त हैं। प्रेम जी, पदमसी, मोहन भाई लाड़ली भाई जैसे नाम उनमें प्रचलित हैं। सन ११८० तक सिंध हैदराबाद में रावण-दहन होता था। रामलीला भी होती

थी। थारपारकर जिले में अभी भी रामलीला होती है। दशहरा दीवाली के लिए लाहौर तथा सिंध रेडियो से विशेष कार्यक्रम प्रसारित किया जाता है। पाकिस्तान में जन्माष्टमी मनाई जाती है और इस अवसर पर लाहौर रेडियो पर बीस मिनट और सिंध रेडियो पर तीस मिनट का कार्यक्रम प्रसारित किया जाता है। लाहौर की फिल्मी दुनिया जन्माष्टमी, वैशाखी एवं वसन्त पंचमी के त्यौहार मनाती है। पाकिस्तान में सर्वाधिक सुसंगठित हिन्दू समुदाय अर्थात् बाल्मीकि समाज द्वारा सम्पन्न बाल्मीकि जयन्ती के कार्यक्रम को रेडियो पर दस मिनट के लिए प्रस्तुत किया जाता है। भारतीय चित्रपटों तथा रामायण और महाभारत सीरियल के कैसेट्स वहां बड़ी संख्या में प्रचारित हो रहे हैं और उसके कारण मुसलमान बालकों में भी धनुषबाण लोकप्रिय हो रहा है। इस घटना को वहां के कट्टरवादी लोग "सांस्कृतिक आक्रमण" की संज्ञा दे रहे हैं।

नृत्य तथा गायन गैर इस्लामी है; किन्तु भारतीय कैसेट्स के कारण उनकी लोकप्रियता बढ़ रही है। हिन्दुओं द्वारा त्यौहार मनाने में, विशेष रूप से बसंत पंचमी मनाने में, मुसलमान भी उत्साह दिखाते हैं। रोशनी, पतंगबाजी, संगीत तथा सार्वजनिक स्तर पर लाहौर, पेशावर मुल्तान, क्वेटा जैसे नगरों में नृत्य को भी अधिकृत प्रोत्साहन मिला है। ये सारे तथ्य किस बात का संकेत देते हैं? यही कि राजनीतिक दृष्टि से हिन्दू विरोध करना आवश्यक होते हुए भी सांस्कृतिक बातों को रोका नहीं जा सकता। भारत में मुस्लिम समस्या के स्वरूप पर पुनर्विचार की आवश्यकता है। सर्वसाधारण मुसलमान यहां की संस्कृति में ही पला है और अनुभव भी करता है कि वह हिन्दुओं के ही खून-खानदान का है; अतएव भारतमाता का पुत्र है। उसको नेताओं द्वारा भड़काया जाता है। किसी भी कारण से सर्वसाधारण मनुष्य आसानी से उत्तेजना में आ सकता है; किन्तु यह क्षणिक उत्तेजना समाप्त होने के बाद सत्य का दर्शन करने की भी क्षमता उसके अन्दर है। सर्वसामान्य मुसलमानों को उकसाने वाले मुसलमान नेताओं का नेतृत्व मुसलमान समाज में से उभर कर ऊपर नहीं आया है। मुसलमान समाज ने उनको अपना नेता नहीं बनाया है। प्रारंभ में मुसलमान समाज पर जिनका प्रभाव भी नहीं था; किन्तु सस्ती प्रसिद्धि के प्रकाश में आने के लिए जो मुसलमान नेता अनुयायी विहीन होते हुए भी समाचार पत्रों में करोड़ों मुसलमानों के प्रतिनिधि के नाते वक्तव्य देते थे, उनको, उनके पीछे कितने मुसलमान हैं इसकी जांच न करते हुए जल्दबाजी में, हिन्दू राजनीतिक नेताओं ने समझौते के लिए मुस्लिम नेता के नाते मान्यता दे दी और और उसके पश्चात्

बहुत सारे मुसलमानों को समाचार पत्रों द्वारा ही इन नेताओं के नाम जानने का अवसर प्राप्त हुआ। मतलब यह कि आज के भारत का साम्प्रदायिक मुस्लिम नेतृत्व मुसलमान समाज की नहीं, हिन्दू राजनेताओं की देन है। हिन्दू राजनेताओं को ठीक सबक सिखाया गया तो उनका यह राष्ट्र-विरोध गौरखधंधा थोड़े ही समय में समाप्त हो जाएगा और प्रमुख राष्ट्रीय प्रवाह में समाविष्ट होने में मुसलमानों को देर नहीं लगेगी।

साम्प्रदायिकता की समस्या दूर हुई तो भी एक सामाजिक समस्या का विचार गम्भीरता से करना आवश्यक रहेगा। यह समस्या है अपराधिकता की। इसके कारणों का शास्त्रशुद्ध अध्ययन करते हुए उनका निराकरण किया जाए। इसके लिए प्रभावी उपाय योजना बनाना आवश्यक है। इस प्रवृत्ति का किसी भी मजहब के साथ संबंध नहीं है। किन्तु सैयद शहादुद्दीन का प्रेक्षण है कि अन्य पंथो की तुलना में मुसलमानों में यह प्रवृत्ति ज्यादा पनप रही है – 'Muslim India' के नवम्बर १९८७ के अंक में सैय्यद शहाबुदहीन लिखते हैं "On a per capita basis ,Muslims in india nurse more criminality, indeed in big cities, the underworld has a high muslim proportion, specially in smuggling and murder on hire."

यह प्रवृत्ति केवल मुसलमानों के लिए नहीं, सम्पूर्ण हिन्दु राष्ट्र के लिए चिन्ता का विषय है और शास्त्रीय चिकित्सा के आधार पर इस प्रवृत्ति को दूर करने की जिम्मेदारी भी सम्पूर्ण राष्ट्र की है। इस प्रवृत्ति का मजहब के साथ कुछ लेना- देना नहीं है।

सारांश यह कि सर्वकष विचार करने के पश्चात् यही निष्कर्ष निकलता है कि भारत की मुस्लिम समस्या हिन्दू राजनेताओं की निर्मित है, और यदि हिन्दू राजनेताओं की मानसिकता परिवर्तित की गई तो इण्डोनेशिया के समान ही भारत के मुसलमान भी हिन्दू राष्ट्रीय संस्कृति के प्रमुख प्रवाह के साथ, अपनी इस्लामी उपासना-पद्धति को पूर्णरूपेण कायम रखते हुए, एकात्म हो सकते हैं। निहित स्वार्थ वाले राजनेताओं ने मंथरा या शकुनि मामा की भूमिका न निभाई तो सामान्य मुसलमानों को श्री कुलिश जी के इस निष्कर्ष से सहमत होने में देर नहीं लगेगी कि "हिन्दू राष्ट्र में ही मुसलमान सुरक्षित रह सकते है।" (राजस्थान पात्रिका दिनांक २. ५. ९१)। श्री कुलिश जी कहते हैं, 'वास्तविकता तो यह है कि अगर मुसलमानों की सुरक्षा कहीं है तो हिन्दू राष्ट्र में ही है, न कि मुस्लिम राष्ट्र में। दुनिया में चारों तरफ नजर डालें किसी भी इस्लामी देश में

मुसलमान सुरक्षित नहीं हैं। सभी इस्लामी देश आपस में लड़ते रहते हैं। भारत के मुसलमानों ने पाकिस्तान बनाया; लेकिन पश्चिमी और पूर्वी पाकिस्तान के बीच जिस कदर लड़ाई ठनी, वह अभी बीस बरस पहले की बात है। इस लड़ाई में हजारों मुसलमान ही मारे गए और उन्हें मुसलमानों ने ही मारा। अब पाकिस्तान के सिंध प्रदेश में मुहाजिर आन्दोलनकारियों को जिस तरह भूना जा रहा है वह किसी से छिपा नहीं है। मरने-मारने वाले दोनों ही मुसलमान हैं। अफगानिस्तान में भी यही हुआ।"

अभी-अभी कुवैत पर ईराक ने हमला किया और सारे अरब देश हिल उठे। उन्हें अमरीका की शरण में भागना पड़ा। लड़ाई ठनी और लाखों की संख्या में मुसलमान ही मारे गए। इससे पहले आठ वर्ष तक ईरान पर इराक ने हमला जारी रखा और वहां भी लाखों की संख्या में मुसलमान ही मरे थे। इससे भी पहले अयातुल्लाह खुमैनी ने इस्लामी क्रांति के नाम पर लाखों मुसलमानों को मरवा डाला था। एक नहीं अनेक उदाहरण संसार के इस्लामी देशों के मौजूद हैं जो भीतर-बाहर दोनों मोर्चों पर लड़ते और खून-खराबा करते रहते हैं। उगांडा के इदी अमीन, लीबिया के गद्दाफी के नाम गिनाये जा सकते है जो अपनी प्रजा का कत्ल करके हुकूमत कायम रखते हैं। ऊपर दिए गए सभी उदाहरण मौजूदा इतिहास के है, पुराने इतिहास में जाने की जरूरत नहीं है। ये उदाहरण सिद्ध करते है कि लाखों की संख्या में मुसलमानों को हर साल मुसलमान ही मार रहे हैं।

जब हिन्दुस्थान की ओर देखते है तो यही कहना पड़ता है कि यहां हिन्दू-मुसलमान विवाद बना हुआ है। बार-बार दंगे होते है, इन दंगों में मरने वालों की तादात दर्जनों तक रहती है। एकाध बड़े दंगों में सैकड़ों जाने भी गई हैं। दूसरी बात यह कि दंगों में हिन्दू और मुसलमान दोनों मरते हैं। ८५ प्रतिशत हिन्दुओं के देश में दंगों में हिन्दू मरते है यह बात ही बताती है कि जो दंगे होते हैं वे स्थानीय तौर पर किसी उत्तेजक कारण से अचानक भड़क जाते हैं। अगर हिन्दू संगठित होकर मुसलमानों के खिलाफ खड़े होते तो या तो दंगे होते ही नहीं या मरने वालों में सिर्फ मुसलमान ही होते। इन दंगों की मिसाल देकर यह कहना सरासर धोखा है कि हिन्दुस्थान में मुसलमानों को खतरा है।

सच्चाई तो यह है कि मुसलमानों की सुरक्षा हिन्दू राष्ट्र में ही है। मुस्लिम देश पाकिस्तान में मुसलमान जितना असुरक्षित है उसके मुकाबले हिन्दुस्थान में नहीं है, क्योंकि हिन्दू कौम में आक्रामक वृत्ति नहीं है, और वह असहिष्णु भी नहीं है।

सारांश, इस्लाम के मजहबी आधार पर नेशन या राष्ट्र निर्माण नहीं हो सकता, और इस्लाम अपने अनुयायियों को भी एकसूत्र में बांधने के प्रयासमें बार-बार और स्थान-स्थान परअसफल रहा है।

हिन्दुत्व और उपासना-पद्धतियां

उपासना पद्धति विशुद्ध व्यक्तिगत बात है, अतएव सामूहिक संस्थाओं या संकल्पनाओं पर इसका प्रभाव नहीं चाहिए। यह बात विदेशों के विषय में भी सही है, और भारत के विषय में भी। ९ सितम्बर, १९६८ को औरंगाबाद के श्री ए. एच. डॉक्टर को श्री गुरुजी लिखते हैं.... इस कारण आप सभी का (पारसी समाज का) समावेश "हिन्दू " की एक ही संज्ञा में किया गया तो मुझे वह बात बहुत पंसद आयेगी। इसके लिए किसी को भी अपनी विशेषताएं छोड़ देने की बिल्कुल आवश्यकता नहीं है'।

दिल्ली के श्री मुहम्मद रफी को ३ मार्च, १९७० को लिखे पत्र में श्री गुरुजी लिखते हैं.... ईद-उल-जूहा तथा होली के पवित्र त्यौहारों के निमित्त आपने शुभेच्छा व्यक्त की.... सभी पवित्र त्यौहार, फिर वे किसी भी संप्रदाय के क्यों न हो, मनुष्यमात्र को भगवान की भक्ति उत्कटता से करने का स्मरण दिलाते हैं। उनके कारण सभी का भला हो सकता है। आपके पत्र में से यही शुद्ध भाव प्रकट होता है। इस कारण में मन:पूर्वक आपका अभिनन्दन करता हूं'।

भारत के मुसलमानों के विषय में १३ अक्तूबर ९८६४ को पं. पद्मकांत मालवीय, सम्पादक "अभ्युदय", इलाहाबाद को श्री गुरुजी लिखते हैं..'मैने अपने प्रकट भाषणों में बार-बार कहा है कि भारत, भारतीय राष्ट्र-परंपरा तथा भारतीय राष्ट्रपुरुषों के विषय में श्रद्धा, भक्ति तथा गौरव की भावना रखते हुए और राष्ट्र की सुख-समृद्धि के लिए उद्योगप्रवण रहकर भारत की शत्रुओं से रक्षा करने के लिए जो सब तरह से सिद्ध रहते है, इन गुणों से युक्त होकर जो काम करते हैं वे परमेश्वर की उपासना किस नाम से करते है, यह सोचने की आवश्यकता नहीं'।

कुंवर देवेन्द्र प्रतापसिंह सोलंकी को लिखे अपने २१ मार्च, १९६६ के पत्र में -श्री गुरुजी कहते है, "अहिन्दू समाजों ने अपने संप्रदाय का सार्थ अभिमान रखते हुए भी भारतीय धर्म, संस्कृति, परंपरा को यथायोग्य आदरपूर्वक स्वीकार करना यह इस देश में राष्ट्रीयता

का लक्षण है।. .इस इष्ट परिवर्तन के लिए प्रेरक आदर्श चारित्र इस नाते आपने रहीम का वर्णन बारीकियों के साथ दिया है, यह समयोचित तथा आवश्यक है।"

१२ मार्च १९३९ को कराड के श्री क. र. खैरतखान को श्री गुरुजी लिखते हैं.. "अपने देश में अहिन्दुओं की संख्या बहुत कम है। शेष लोग बीच की अवधि में किन्हीं कारणों से अन्य धर्ममतों में प्रविष्ट हुए हैं। अपनी इस पूर्वपरम्परा का स्मरण रखकर स्वदेश भारत, वैसे ही उसकी जीवनपरंपरा का अभिमान उन्होंने रखना चाहिए। देशबाह्य निष्ठा या भक्ति नहीं रखनी चाहिए। अपने धर्ममत के अनुसार धर्मस्थान देश के बाहर होगा तो धर्ममत एक सीमित योग्य आदरभाव ऐसे धर्मस्थान के बारे में रखना चाहिए। ऐसे धर्म स्थान छोड्कर बाकी देशबाह्य निष्ठा नहीं रखनी चाहिए। इस तरह विद्यमान उपासना-पद्धति में परिवर्तन न करते हुए भी हिन्दू राष्ट्र में उन्होंने (अहिन्दुओं ने) गौरव तथा समानता का स्थान सहजतापूर्वक ग्रहण करना चाहिए। उनको कनिष्ठ मानना असंभव है, क्योंकि हिन्दु तत्वज्ञान के अनुसार ईश्वर की उपासना के सभी मार्ग आदरणीय हैं।"

२० अगस्त, १९७१ को नई दिल्ली कें डॉ० संकटा प्रसाद को श्रीगुरुजी ने लिखा.....

"आपके मित्र श्री हाफिज मोहम्मद अताउल्ला खां अतारहमानी जी "जनमर्ग" नामक साप्ताहिक निकालने वाले हैं और उससे इस्लाम का वास्तविक स्वरूप स्पष्ट करते हुए इस्लाम मतानुयायियों में जो भ्रांतिपूर्ण धारणाएं हैं उनको दूर करने का प्रयास करने वाले हैं, यह योग्य ही है। किन्तु कितने इस्लाम मतानुयायी हिन्दी साप्ताहिक पढेंगें और उनको अपनी गलत धारणाएं दूर करने का अवसर मिलेगा, यह प्रश्न ही है। यह साप्ताहिक उर्दू भाषा में होता तो मुसलमान उसे पढ़ सकते और उनको वह पसंद आता। किन्तु गैरमुस्लिम समाज को इस्लाम की शिक्षा देने की दृष्टि से, इस्लाम के सिद्धांतों की आधुनिक परिभाषा (वर्तनमान स्थिति में) का महत्व है यह सिद्ध कर उसका प्रचार करने के लिए इस साप्ताहिक का उपयोग हो सकेगा। भारत में इस्लाम के प्रचार का यह एक साधन बनेगा और इस्लाम के प्रचार में रुचि रखने वालों में यह लोकप्रिय हो जाएगा।

ईशकृपा से उनका साप्ताहिक यशस्वितापूर्वक चले।"

१० अप्रैल, १९६६ को पुणे के श्री विजयराव वाडेकर को श्री गुरुजी ने लिखा:-

"आप श्री साई महाराज के भक्त है यह उत्तम बात है आध्यात्मिक क्षेत्र में हिन्दू, मुसलमान ईसाई आदि नामों का महत्व नहीं, ऐसा श्रेष्ठ लोगों का मत है। जहां मन को शांति मिलेगी विकारों पर विजय प्राप्त करने की शक्ति प्राप्त होगी, मन संतुलित होगा, निर्लिप्ततापूर्वक स्वार्थरहित होकर जीवनमात्र में ईश्वर के निवास का अनुभव कर, कर्तव्य करने की अखंड प्रेरणा प्राप्त होगी वहां श्रद्धा रखते हुए अपनी सच्ची उन्नति करना यही योग्य है,....।"

ये सब बातें आपको श्री साई महाराज पर निष्ठा रखने से प्राप्त हो रही है तो वह भक्ति अतीव उचित है। स्वधर्म, आपने जिस धर्म में जन्म लिया हैं और जिसको आजकल हिन्दू धर्म की संज्ञा देने की प्रथा रूढ़ हुई है, उस पर की निष्ठा तथा उसकी परिपालनरूप सेवा करने में इस तरह की साई भक्ति के कारण बाधा न आते हुए सहायता ही होगी। स्वधर्म के साथ प्रतारणा करने की सलाह कोई भी जातिवंत साक्षात्कारी महापुरुष नहीं देता। स्वधर्म का उत्तम रीति से पालन करने की वह प्रेरणा देता है। अत: आपके मन को इस कल्पना ने स्पर्श भी नहीं करना चाहिए कि श्री साई महाराज की भक्ति करने से आप हिन्दू धर्मनिष्ठ नहीं रहते।"

श्री एम. एम. करी. सिद्धेश्वर को ५ नवम्बर, १९५३ को लिखे पत्र में श्री गुरुजी कहते है,

“धर्म का आशय ठीक ढंग से समझ लिया और उसको आचरण में लाया तो नानाविध धर्ममतों, पंथ, संप्रदायों में सहयोगिता की भावना निर्माण करने में वह (यानि धर्म) जितना पोषक सिद्ध होगा, उतना अभी का इहवाद (सेक्युलरिज्म), इसका जो अर्थ नेता लोग तथा अनुयायी या शासन तथा जनता लगा रहे हैं तदनुसार, कभी भी पोषक सिद्ध होना संभव नहीं, वह लोगों के सामने रखने की आपकी कल्पना बहुत अच्छी है।"

१० सितम्बर, १९६९ को "विश्व बौद्ध परिषद " के अध्यक्ष श्री ऊ छान ठुन, (रंगून) को श्री गुरुजी लिखते हैं, "अपनी भेंट हो और सनातन धर्म के प्रसार तथा पालन के लिए योजना बनाई जाए ऐसी मैं अखिल विश्व की भाग्यनियंता ईश्वरी सत्ता को प्रार्थना करता हूँ।“

अन्य एक पत्र में लिखा है कि, "महाकवि अकबर इलाहाबादी जी विषयक दोनों पत्रक प्राप्त हुए। उर्दू समझना मेरे लिए कुछ कठिन है, तो भी उनके काव्य में आधुनिक

वायुमंडल से सुसंगत देशभक्ति की प्रबल भावना विद्यमान है, ऐसा स्पष्ट रूप से अनुभव में आता है"।

श्री शंकर राव तत्ववादी को २९ अगस्त, १९६३ को लिखा-

"विद्यमान होरी मठ के आचार्य के गुरु श्रीमत् चंद्रशेखर भारती स्वामी के पास एक अमेरिकन सज्जन आये थे और हिन्दू धर्म की दीक्षा प्राप्त हो इस हेतु प्रार्थना करने लगे थे। श्रीमत् आचार्य ने उनसे प्रश्न किया "तो ईसाई धर्ममत में क्या न्यून है, उसके अनुसार उपासना क्यों नहीं हो रही"? उसने कहा, "उस उपासना में मन को शांति प्राप्त नहीं हुई"। श्रीमत् आचार्य ने कहा, "आपने प्रामाणिकता पूर्वक, मन: पूर्वक, पूर्ण श्रद्धा से उपासना की क्या, उसने सोच कर उत्तर दिया "नहीं "। इस पर श्रीमत् आचार्य ने उसको बताया कि "आप श्रद्धायुक्त अतंःकरण से ख्रिस्त पर विश्वास रखकर, प्रमाणिकता से उस मत के अनुसार प्रभुभक्ति कीजिए। पर्याप्त दिन तक ऐसा करते रहने पर भी यदि मन अशांत या असमाधानी रहता है, तो वह उपासना आपके पूर्वजन्म से प्राप्त प्रकृति से सुसंगत नहीं, ऐसा सिद्ध होगा। और ऐसा हुआ तो फिर यहां आओगे तो मार्ग बताया जाएगा।" इस उदाहरण का अर्थ स्पष्ट हैं-अपनी मूल, जन्म से प्राप्त, निष्ठा दृढ़ करना यह इष्ट, इसलिए उसकी खिस्तनिष्ठा प्रबल करने का प्रयत्न श्रीमत् आचार्य ने किया। अपने धर्म की यह व्यापक संग्राहक दृष्टि है।

श्री प्रभुलाल, रंगून, को १० नवम्बर, १९५५ के पत्र में श्री गुरुजी लिखते है-

"बौद्ध संप्रदाय अपने ही धर्म का एक अंग है। वेद प्रामाण्य न मानने के कारण उनका भारतीयत्व नष्ट नहीं होता। वेद न मानने वाले, किन्तु विशाल हिन्दू धर्म का सात्विक भाव लेकर निराकार की या शून्य की उपासना करने वाले संप्रदाय यहां है ही। वैसा ही बौद्धमत है।"

सम्पूर्ण जीवन 'हिन्दू ' शब्द से घृणा रखने वाले पं० जवाहरलाल नेहरू अपने जीवन के संध्याकाल में Norman cousins के Talks with Nehru में कहते हैं:-

"हिन्दू तत्वज्ञान, धर्म और लोकतंत्र में विसंगति नहीं है। हिन्दू धर्म के उदर में एक तेजस्वी विश्ववाद है। हिन्दू धर्म किसी भी परिवर्तन से मेल जमा सकता है। भिन्न-भिन्न तथा परस्पर विरोधी विचारों का समावेश कर सके इतना हिन्दू धर्म विशाल है। लोगों का

सर्वसाधारण कल्याण जिनमें दृष्टिगोचर होगा ऐसे नये स्थित्यंतर करने में यह भारत का धर्म पीछे नहीं रहेगा। इसके पूर्व हिन्दू धर्म ने बड़े-बड़े स्थित्यंतर हजम किए हैं।

मुस्लिम और श्री गुरुजी

दक्षिण के मदुराई के लोगों ने मुसलमानों के विषय में श्री गुरुजी का दृष्टिकोण क्या है, यह जानने की इच्छा व्यक्त की। श्री गुरुजी ने कहा, "हम सबके पूर्वज एक ही है और हम सब उनके वंशज हैं, यह बात हमने सदैव ध्यान में रखनी चाहिए। आप अपने-अपने धर्म का प्रामाणिकता पूर्वक पालन कीजिए, किन्तु राष्ट्र के संदर्भ में हम सबने एक रहना चाहिए।"

अलीगढ़ के एक कश्मीरी सूफी के साथ वार्ता करते समय श्री गुरुजी ने बताया, "हरएक ने अपने-अपने धर्म का पालन करना चाहिए। एक सर्व सारभूत तत्वज्ञान ऐसा है कि जो केवल हिन्दुओं का भी नहीं और केवल मुसलमानों का भी नहीं, आप उसे अद्वैत कहिए या और कुछ। वह तत्वज्ञान बताता है कि एकमेवाद्वितीय ऐसी एक शक्ति है, वही सत्य है, वही आनन्द है, वही सर्जक, रक्षक तथा संहारक है। अंतिम सत्य का यह मूलभूत स्वरूप हम सबको एकत्रित ला सकता है। वह किसी भी एक पंथ का नहीं है। इस कारण वह सभी के लिए स्वीकार्य है। कोई भी पंथ आखिर उपासना का एक विशिष्ट मार्ग है। इस्लाम, ईसाई और हिन्दू सबका परमेश्वर एक ही है और हम सब उसके भक्त हैं, इस सत्य को आप स्वीकार क्यों नहीं करते? एक सूफी के नाते तो आपने इस सत्य को स्वीकार करना चाहिए।"

डॉ० सैफुद्दीन जिलानी से हुई वार्ता सुप्रसिद्ध है। डॉ० जिलानी मूलत: ईरान के थे। कई वर्षो तक भारत में ही स्थायी रूप से रहे। इस्लामी तत्वज्ञान तथा तुलनात्मक तत्वज्ञानों का उनका अध्ययन गहन था। उन्होंने श्री गुरुजी से विस्तृत बातचीत की। उसके कुछ अंश नमूने के तौर पर, इस प्रकार हैं -

श्री गुरुजी

"पाकिस्तान ने पाणिनी की पांच हजारवीं जयन्ती मनाई। कारण क्या? तो आज जो भूभाग 'पाकिस्तान' नाम से पहचाना जाता है, वहां पाणिनी का जन्म हुआ था। यदि पाकिस्तानी लोग 'पाणिनी' हमारे श्रेष्ठ पूर्वजों में से एक था, ऐसा गर्व के साथ कहते हैं,

तो फिर भारत के अपने 'हिन्दू-मुसलमान' भी-मैं उनको 'हिन्दू-मुसलमान' कहता हूं-पाणिनी, व्यास, बाल्मीक, राम, कृष्ण सब अपने ही श्रेष्ठ पूर्वज है ऐसा अभिमानपूर्वक क्यों नहीं कहते"?

हिन्दुओं में भी ऐसे अनेक लोग हैं कि जो राम, कृष्ण आदि को ईश्वर का अवतार नहीं मानते। किन्तु तो भी वे उनको श्रेष्ठ पुरुष मानते है, अनुकरणीय मानते है। इसलिए मुसलमानों ने उनको "अवतारी पुरुष" नहीं माना तो भी कुछ बिगड़ता नहीं हैं। किन्तु क्या मुसलमानों ने उनको अपना राष्ट्र-पुरुष भी नहीं मानना चाहिए। हमारे धर्म और तत्वज्ञान की शिक्षा के अनुसार हिन्दु और मुसलमान दोनों समान ही हैं। ईश्वरीय सत्य का साक्षात्कार केवल हिन्दू ही कर सकता है, ऐसा नहीं है। अपने-अपने धर्ममत के अनुसार आचरण करते हुए कोई भी साक्षात्कार प्राप्त कर सकता है।

"हिन्दुओं और मुसलमानों ने परस्पर के त्यौहारों में भाग क्यों नहीं लेना चाहिए। समाज के सभी स्तरों के लोगों को अतीव उल्लास के वायुमंडल में एकत्रित लाने वाला होलिकोत्सव है। मानो, इस होलिकोत्सव में एकाध मुस्लिम बंधु के बदन पर किसी ने थोड़ा रंग उड़ाया तो क्या उतने से कुरान की सब आज्ञाओं का उल्लंघन हो जाता है? इस बात की ओर उन्होंने एक सामाजिक व्यवहार इस नाते देखना चाहिए। आप मेरे ऊपर रंग डालिए, मैं आपके ऊपर रंग डालता हूं। हमारे लोग तो कई वर्षो से मोहर्रम के सभी कार्यक्रमों तथा जलूसों में सहभागी होते आए हैं। इतना ही नहीं, अजमेर उर्स जैसे अन्य त्यौहारों में भी मुसलमानों की बराबरी से हमारे लोग भी उत्साह में भाग लेते हैं। किन्तु यदि कल हमने कुछ मुस्लिमों बंधुओं को हमारी सत्य-नारायण पूजा में भाग लेने के लिए निमंत्रित किया, तो क्या होगा?

प्रश्न: हिन्दू और मुसलमानों में सामजस्य स्थापित करने की दृष्टि से नेतृत्व करने के लिए कौन योग्य है? राजनीतिज्ञ, शिक्षातज्ञ या मजहबी नेता?

उत्तर: इस विषय की दृष्टि से राजनीतिज्ञ सबसे आखिरी में आता है। मजहबी नेताओं के बारे में भी ऐसा ही कहा जा सकता है। आज हमारे देश में अति संकीर्ण मनोवृत्ति के मजहबी नेता दोनों समुदायों में है। इस काम के लिए हमें बिल्कुल तीसरे प्रकार के लोगों की आवश्यकता है। जो लोग धार्मिक है, किन्तु राजनीतिक नहीं और समग्र राष्ट्र का

विचार जिनके मन में सदैव जागृत रहता- है, ऐसे लोगों की इस काम के लिए हमें आवश्यकता है। धार्मिक पृष्ठभूमि के बिना कुछ भी साध्य नहीं होगा। धार्मिकता तो होनी ही चाहिए।

प्रश्न: परस्पर सामंजस्य निर्माण होने की दृष्टि से दोनों समुदायों ने तुरन्त हाथ में लेने योग्य उपक्रम?

उत्तर: ऐसा कुछ एकदम बताना बहुत कठिन है, किन्तु हम देखें, धर्म के यथार्थ उपदेशों की शिक्षा व्यापक पैमाने पर देना एक उपक्रम हो सकता है; किन्तु आज के जैसे हमारे राजनेताओं द्वारा पुरस्कृत निधार्मिक शिक्षा नहीं, तो वास्तविक धार्मिक शिक्षा।

लोगों को इस्लाम का ज्ञान करो तो वैसे ही हिन्दू धर्म का भी ज्ञान प्रदान करो। सभी धर्म मानव को महान, पवित्र तथा मंगल बनने के लिए बताते हैं, यह लोगों को सिखाएं। प्रश्न: "भारतीयकरण" के विषय में?

उत्तर: "भारतीयकरण" की घोषणा जनसंघ ने की है। किन्तु इस विषय में संभ्रम पैदा क्यों होना चाहिए? भारतीयकरण का मतलब सभी को हिन्दू बनाना नहीं है। हम सब इसी भूमि की संतान हैं, यह सत्य हम सभी ने समझ लेना चाहिए और इस सत्य पर अविचल निष्ठा रखनी चाहिए। हम सब एक ही मानव समूह के हैं, हम सबके पूर्वज एक ही थे और इस कारण हम सबकी आकांक्षाएं भी एक ही हैं, यह हमने समझ लेना चाहिए। यह भारतीयकरण का सही अर्थ है।

भारतीयकरण का अर्थ यह नहीं है कि किसी ने अपनी पूजा-पद्धति का त्याग करना चाहिए। हमने ऐसा कभी भी कहा नहीं है, कभी भी कहेंगे नहीं। हमारी श्रद्धा है कि एक ही उपासना पद्धति सम्पूर्ण मानवजाति के लिए सुविधाजनक नहीं है।

प्रश्न : अपने देश में साम्प्रदायिक विसंवाद नष्ट करने की दृष्टि से उपायों की खोज करने के लिए आपके साथ सहयोग करेंगे ऐसे मुस्लिम नेताओं और आपकी बैठक हो ऐसा समय अब आया है, ऐसा आपको नहीं लगता क्या? ऐसे नेताओं से भेंट करना, आप पसंद करेंगें क्या?

उत्तर : केवल पसंद करूंगा इतना ही नहीं, मैं ऐसी भेंट का स्वागत करूंगा।

बात-चीत के पश्चात् डॉ० जिलानी ने कहा-"मेरा ऐसा निश्चित मत हो गया है कि हिन्दु-मुसलमान प्रश्न के विषय में अधिकार वाणी से यथोचित मार्गदर्शन यदि कोई कर सकता है तो वह श्री गुरुजी ही हैं"।

यह सभी के स्मरण में है कि आपातकाल में यरवडा कारागार में संघ के परमपूजनीय सरसंघचालक श्री बालासाहेब देवरस तथा उनके सहयोगियों के साथ प्रत्यक्ष संबंध प्रस्थापित होने के फलस्वरूप जमाते इस्लामी के लोगों के मन में संघ के परमपूजनीय सरसंघचालक जी तथा स्वयंसेवकों के विषय में निरपेक्ष, स्वाभाविक प्रेम के कारण-किस तरह आत्मीयता का भाव निर्माण हुआ था।

सर्वेषाम् अविरोधेन्

हिन्दू राष्ट्र को मानने वालों के लिए यह संतोष की बात है कि पूज्य डॉक्टर जी या पूज्य गुरुजी द्वारा प्रतिपादित हिन्दूराष्ट्र का अब तक किसी ने भी विरोध नहीं किया है और जिस हिन्दू राष्ट्र संकल्पना का विरोध किया जा रहा है वह इन दोनों को अभिप्रेत नहीं थी।

विरोधी यह प्रण कर रहे हैं कि वे हिन्दूराष्ट्र की स्थापना नहीं होने देंगे। यह प्रण पूरा करना किसी के भी लिए संभव है क्या? क्योंकि इस राष्ट्र का निर्माण तो पहले ही हो चुका है। प्रारम्भ में अथर्ववेद का जो उद्धरण प्रस्तुत किया है वह यहां उल्लेखनीय है। ऋषियों ने प्रारम्भिक काल में जो तप किया उससे राष्ट्र के बल का तथा ओज का निर्माण हुआ। इतिहास ने जब आंखे खोली तब उसने हमें "राष्ट्र " के रूप में ही देखा। यह राष्ट्र प्राक् - ऋग्वेद काल से चलता आया है। इसका अब निर्माण कैसे हो सकता है। पूज्य डॉ० हेडगेवार जी को कुछ लोग हिन्दूराष्ट्र का जनक मानते हैं। यह गलत और बाह्य वायुमंडल के प्रभाव का परिचायक है। डॉ० हेडगेवार हिन्दूराष्ट्र के निर्माता नहीं थे। वे उसका ज्ञापक कारण थे। ज्ञापक कारण का मतलब है कि मानो किसी कमरे में पहले से ही कुर्सी-मेज रखी हुई है, किन्तु कमरे में घना अंधेरा होने के कारण कोई भी देख नहीं सकता। किसी को भी यह पता नहीं चल सकता कि कमरे में कुर्सी- मेज है। किन्तु यदि "स्विच ऑन" किया गया तो वहां का विद्युत दीप प्रज्वलित हो जाएगा और उसके प्रकाश के कारण कुर्सी-मेज का अस्तित्व देखने वालों के ध्यान में आएगा। इसका मतलब यह नहीं कि विद्युतदीप ने उनका निर्माण किया है। वे तो पहले से ही कमरे में विद्यमान थे। अंधेरे के

कारण दिखाई नहीं देते थे। विद्युतदीप ने अंधेरा दूर किया और कुर्सी-मेज दिखाई पड़ने लगे। वैसे ही हिन्दूराष्ट्र का अस्तित्व प्राक-ऋग्वेद काल से ही चलता आया है। आत्मविस्मृति तथा राजनीतिक सुविधावाद के अंधकार के कारण उसको देखना सामान्यजनों के लिए असंभव हो गया था। पूज्य डॉक्टर जी ने केवल "ज्ञापक कारण" की विद्युतदीप की भूमिका का निर्वाह किया। हिन्दूराष्ट्र सनातन सत्य है। उसकी स्थापना की बात हास्यास्पद तथा अप्रासंगिक (Irrelevant) है, चाहे ऐसी बात करने वाले हिन्दूराष्ट्र के विरोधक हो या समर्थक।

"We or our Nationhood Defined" की भूमिका में श्री गुरुजी ने यह स्पष्ट किया था कि उनका विवेचन 'राष्ट्र ' विषयक है, राज्य विषयक नहीं। "राष्ट्र " और "राज्र्य " दो अलग-अलग संकल्पना हैं। उन्होंने यहां तक कहा था कि "राज्य संकल्पना के विषय में कुछ अभिप्राय प्रकट करना हो तो वे उस विषय में अलग से लेखन करेंगे, किन्तु प्रस्तुत ग्रंथ "राष्ट्र" विषयक ही है, "राज्य" विषयक नहीं "।

यह दो भिन्न संकल्पनाएं हैं। 'राष्ट्र ' शरीर है , 'राज्य' उसका वस्त्र। हमारा राष्ट्र सनातन है किन्तु हमारे राष्ट्र में 'राज्य' संस्था का निर्माण बहुत देर के बाद हुआ, जिसका विवेचन महाभारत के शांतिपर्व में युधिष्ठिर के प्रश्न के उत्तर में भीष्म पितामाह ने किया है। 'राष्ट्र ' और 'राज्य' संकल्पनाओं में कितना महदन्तर है इसका विवेचन श्री आरविन्द के 'The Ideal of Human Unity' के चतुर्थ अध्याय (The Inadequacy of the State Idea) में पाया जाता है।

आज वास्तविक "हिन्दूराष्ट्र " की संकल्पना का विरोध कोई भी नहीं कर रहा है। विरोधक "हिन्दू राज्य" का निषेध कर रहे हैं। 'राष्ट्र' और 'राज्य,' में क्या अन्तर है यह न जानने के कारण वे जिस संकल्पना का विरोध कर रहे हैं, वह राष्ट्रभक्त हिन्दुओं, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के स्वयंसेवकों, को अभिप्रेत नहीं है।

डॉन क्विक्जोट के संबंध में आता है कि पवनचक्की को राक्षस मानकर वह एक चक्की पर ही टूट पड़ा। हमारे राजनेता तथा बुद्धि के ठेकेदार डॉन क्विक्जोट के ही उत्तराधिकारी हैं। किन्तु भारत में ही नहीं, अपितु पूरे संसार में वैचारिक संभ्रम को समाप्त

करने की दृष्टि से-विविध संकल्पनाओं की सुस्पष्टता की दृष्टि से-निर्माण होने वाला असली, मूलभूत प्रश्न इससे कई गुना अधिक गहराई तक पहुंचने वाला है।

समूहगत अस्मिता

समूहगत अस्मिता का आविष्कार विभिन्न स्तरों पर विभिन्न ईकाइयों के रूप से होता है, यथा परिवार, गोत्र, जनजाति, व्यावसायिक या गैर व्यावसायिक संघ, समाज (राष्ट्र) मानवता, विश्व आदि। *

*   *   *   *   *

अथर्व वेद के अनुसार सर्वप्रथम परिवार संस्था का निर्माण हुआ।" सा उदक्रामत्त-सा गार्हपत्ये न्यक्रामतु " (अथर्व ८/१ ० /२)। इसका अर्थ यह है कि विराट स्थिति से उत्क्रांति हुई गार्हपत्य स्थिति में। अर्थात विवाह संस्था तथा परिवार संस्था का निर्माण हुआ, तो पहले 'गृहपति' का निर्माण। उत्क्रांति की अगली अवस्था भी अथर्व में है। "साउदक्रामत् -सा आहवनीयेन्यक्रामत "। उस संस्था की उत्क्रांति आहवनीय संस्था में हुई, जहां एक ही क्षेत्र में रहने वाले सब परिवारों के लोग एकत्रित आकर सामूहिक कार्य, यज्ञ आदि करने लगे तथा एकत्रित विचार-विमर्श करने लगे। इससे अगली अवस्था सभा की थी, जिसके मेंबर को सभ्य कहा जाता था। "सा उदक्रामत् - "सा सभायां" न्यक्रामत्। यान्ति अस्य सभां सभ्यों भवति।" इस तरह स्थान-स्थान पर ग्राम सभाओं का निर्माण हुआ। उसकी उत्क्रान्ति राष्ट्र समितियों में हुई। जो राष्ट्र समिति का सदस्य था उसे "सामित्य" यह संज्ञा थी- "सा उदक्रामतु सा समितौ न्यक्रामत्। यान्ति अस्य समिति सामित्यों भवति "। जो राष्ट्र समिति रहती थी उसकी उत्क्रांति आमंत्रण परिषद में हुई। मंत्रिमंडल का निर्माण उसमें से हुआ। जिसके सदस्यों को "आमंत्रणीय" संज्ञा दी गई थी। " सा उदक्रामत् सा मंत्रणे न्यक्रामत्।" शासक प्रणालियों का हमारे यहां इस अवस्था के पश्चात् निर्माण हुआ। प्रारंभिक विश्रृंखल अवस्था में से राष्ट्र निर्माण का यह कार्य महर्षियों ने किया।

"दण्डा श्वेद् गो अत्रनास आसन्

परिच्छिन्ना भरता अर्भकास:

अभवच्च पुरएता वसिष्ठ

अदित् तृतसूनां विशों अप्रथन्त।। (ऋग्वेद ७ - ३३ - ६)

गायों को आगे बढाने के लिए प्रयोग की जाने वाली लाठियां जिस तरह निर्बल तथा

पृथक- पृथक हुआ करती हैं, वैसे ही निर्बल तथा पृथक- पृथक लोग शिशुवत तथा परिच्छिन्न थे। किन्तु उनका नेता ऋषि वशिष्ठ हुआ, तब यही भारत के लोग प्रख्यात तथा समृद्ध हुए। राष्ट्र के नाते यशस्वी हुए। राष्ट्र निर्माण का आधार मातृभूमि रही। ऋषियों की प्रार्थना थी : -

"सा नो भूमि: त्विषिं बलं राष्ट्रे दयातूत्तमे" (अथर्व १२ - १ - ८)

यह हमारी मातृभूमि हमारे इस राष्ट्र में तेज तथा बल को धारण कर उसे बढ़ाएं।

मातृभूमि की धारणा की दृष्टि से ऋषि कहते हैं-

"सत्य बृहद् ऋतं उग्रं दीक्षा प्रणों ब्रह्म यज्ञ: प्रथिवीं धारयन्ति। सा नो भूतस्य भवयस्य पत्नी उरूं लोकं पृथिवीं न: कृणोतु। (अथर्व १२ - १ - १)

सत्य, ऋतु, उग्रत्व, दाक्षिण्य, तप, ब्रह्म, और यज्ञ मातृभूमि की धारणा करते रहते हैं। यह हमारी मातृभूमि हमारे भूत- भविष्य का आधार है, यह हमें हमारे देश में विस्तृत कार्य- क्षेत्र प्रदान करे।*

*   *   *   *

समूहगत अस्मिता का प्रवास पश्चिम और भारत में एक ही प्रकार का होता रहा है क्या? वैसे तो 'नेशन' को पश्चिमी विचारक भी एक सुस्पष्ट, सुनिश्चित, सुस्थिर संकल्पना नहीं मानते। उसके कई प्रकार हैं और हर एक प्रकार के लिए स्वतंत्र शब्द या संज्ञा प्रदान करना ही शास्त्रशुद्ध पद्धति है; किन्तु चर्चा की सुविधा के लिए ऐसा मान भी लिया कि 'नेशन' नाम की संकल्पना सुनिश्चित है तो भी एक प्रश्न उपस्थित होता है वह प्रश्न केवल 'नेशन' के ही बारे में नहीं तो सभी स्तरों की विभिन्न इकाइयों के बारे में- व्यष्टि से परमेष्ठि

तक भी उत्पन्न होता है। उदाहरण के रूप में हम 'नेशन' की चर्चा करेंगे। वैसे यही प्रश्न सभी इकाइयों के बारे में समान रूप से लागू होता है।

पश्चिमी वैश्विक दर्शन में 'नेशन' का स्थान और पश्चिमी मनोरचना में 'नेशनलिज्म' का महत्व और हिन्दू वैश्विक दर्शन में 'राष्ट्र ' का स्थान और हिन्दू मनोरचना में "राष्ट्रीयता " का महत्व दोनों को एकरूप या समान माना जा सकता है क्या?

भारतीय दर्शन की मौलिक धारणाओं और अभारतीय चिन्तकों के विचारों में कुछ मौलिक अंतर है। पश्चिम में सभी इकाइयों और संकल्पनाओं का विचार पृथक-पृथक (In compartment) ढंग से टुकड़ों-टुकड़ों में किया जाता है। व्यक्ति का व्यक्ति के नाते, परिवार का परिवार के नाते, समाज का समाज के नाते, मानवता का मानवता के नाते उनके विचार में समग्रता का अभाव रहता है। व्यक्ति का विचार करते समय वे अन्य इकाइयों को आखों से ओझल कर देते हैं। इसी तरह परिवार, राष्ट्र और मानवता का विचार करते समय विचाराधीन इकाई को छोड्कर अन्य इकाइयां या तो विस्मृत हो जाती हैं, या अति गोण। एक-एक इकाई का पृथक-पृथक विचार करना पाश्चात्य प्रकृति है। समझने की सुविधा की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि बीच में एक बिन्दु है जो व्यक्ति है। उसको आवृत करने वाला उससे बड़ा वृत परिवार का है। उसको आवृत करने वाला किन्तु पिछले वृत्त से असंबद्ध दूसरा बड़ा वृत्त है समुदाय। उसको आवृत करने वाला किन्तु उससे असंबद्ध उससे बड़ा वृत्त राष्ट्र का है। उसको आवृत करने वाला किन्तु बड़ा वृत्त है मानवता का। यहां तक ये पहुंच गए हैं।

पश्चिम की यह सारी रचना संकेंद्रित (Concentric) है। इससे में व्यक्ति केन्द्र बिन्दु है। उससे सातत्य का जैविक (Organic) संबंध न रखते हुए और एक दूसरे से भिन्न, अन्य वृत परिवार, समुदाय, राष्ट्र, मानवता आदि के हैं। ये एक दूसरे को आवृत अवश्य करते हैं; पर एक दूसरे के विलग हैं। वे एक दूसरे से निर्गमित नहीं होते। इस रचना को संकेन्द्री (concentric) कहा जाता है।

सनातन काल से हमारी सम्पूर्ण रचना कुंडलित, सर्पित या उत्तरोत्तर वृद्धि करने वाली (Spiral) अखंड मंडलाकार रही है। इसका प्रारंभ व्यक्ति से होता है और व्यक्ति को लेकर व्यक्ति से संबंध न तोड़ते हुए, उससे संबंध कायम रखते हुए, अगला वृत्त परिवार

का है। उससे संबंध विच्छेद न करते हुए, उससे संबद्धता रखते हुए उससे बड़ा वृत्त समाज का है। उससे सम्बद्धता सूत्र अविच्छिन्न रखते हुए, उससे सम्बद्ध अगला वृत्त राष्ट्र का है। यही सम्बद्धता निरन्तर रखते हुए राष्ट्र के ऊपर मानवता का वृत्त है और इसी प्रक्रिया में से चरम शिखर पर चराचर विश्व का वृत है, जिसके ऊपर अखिल ब्रह्मांड है। यह सर्पिल (कुंडली) अखण्ड मंडलाकार (Spiral) की रचना है।

दोनों रचनाओं में क्या भेद है, उसका विस्तृत विश्लेषण पंडित दीन दयालजी ने, सनातन धर्म के आधुनिक प्रवक्ता के नाते, किया है।

अखंडमंडलाकार रचना में पहली इकाई से दूसरी ईकाई निकलती है, दूसरी से तीसरी और इस तरह यह क्रम चलता रहता है। उत्तरोत्तर वृद्धि करने वाली अखंडमंडलाकार (spiral) रचना के कारण इन इकाईयों के हितों में परस्पर विरोध नहीं है। व्यक्ति और परिवार के हित में विरोध नहीं है। परिवार और समुदाय के हित में विरोध नहीं है। समुदाय और राष्ट्र, राष्ट्र और मानवता के हित में विरोध नहीं है। विभिन्न इकाइयां एक दूसरे की विरोधी न होकर एक दूसरे की पूरक हैं। उदाहरणार्थ, बालक जब छोटा होता है, वह कुछ भी नहीं जानता। उस अवस्था में उसके लिए एक ही इकाई है- 'अहम् ' मैं हूं। वह थोड़ा बड़ा होता है। माता पिता, भाई, बहन को पहचानता है, उनके साथ वह आत्मीयता का अनुभव करता है तो उसके लिए परिवार एक इकाई बन जाती है। पर वह अपने 'अहम्' का निषेध नहीं करता।

वह सोचता है कि 'मैं भी सत्य हूं परिवार भी सत्य है, वह और बड़ा होता है और गुणकर्म का विकास करता है। समान गुणकर्म रखने वाले लोगों के साथ समुदाय स्थापित करता है। पहली इकाइयों का निषेध न करते हुए उस समुदाय (Community) के साथ एकात्मता का अनुभव करता है। इसी विकास क्रम में समुदाय आदि का निषेध न करते हुए सोचता है कि केवल समुदाय नहीं, सम्पूर्ण राष्ट्र मेरा है। फिर उसकी चेतना का इससे भी अधिक विकास होता हैं तो वह सम्पूर्ण मानवता के साथ एकात्मता का अनुभव करता है और चेतना के विकास की अन्तिम अवस्था में उसी अखंडमंडलाकार प्रगति की अगली अवस्था के नाते वह सम्पूर्ण चराचर के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है। 'All is one' का साक्षात्कार करता है, और "स्वदेशो भुवनत्रय्म" के नाते विश्व नागरिक ही नहीं, अपितु विश्वात्मा के साथ एकात्म हो जाता है। बचपन के "अहम्" से लेकर

सन्यासी जीवन की चरमोत्कर्ष अवस्था तक का जो सुदीर्घ चेतना प्रवास है उसमें जैसे जैसे आत्मचेतना बड़ी होती जाती है, वैसे-वैसे उसके लिए, पुरानी पहली "इकाइयां" सब तरह से सत्य होते हुए भी उसको नई-बड़ी इकाई के सत्य का साक्षात्कार होता जाता है। अन्तिम साक्षात्कार "सर्वम खुलु इदम् ब्रह्म" का है। ये सभी इकाइयां सत्य हैं। हमारी आत्मचेतना का जैसे-जैसे विस्तार होगा वैसे-वैसे हमारे साक्षात्कार का विकास होगा। सभी सत्य है, इस कारण एक दूसरे का निषेध नहीं है। जैसे बीज में अंकुर, अंकुर से पौधा, उसी क्रम से शाखाएं, पल्लव, फूल और फल यह विकास के क्रम हैं। बीज और अंकुर में विरोध नहीं है, अंकुर और पौधे या वृक्ष में विरोध नहीं है। सबसे छोटी इकाई से लेकर सबसे बड़ी इकाई तक एकात्मता (Integration) है। सभी अपने-अपने दायरे में सत्य हैं। कोई इकाई दूसरे की विरोधी नहीं है। यह आत्मचेतना का अखंडमंडलाकार विकास है। यह हिन्दू-पद्धति की विशेषता है। पश्चिम की संकेन्द्रिक (Concentric) रचना में इसका पूर्ण अभाव है।

दोनों दर्शनों में यह मौलिक अंतर है। हिन्दू दर्शन की इस प्रकृति के कारण "हिन्दू" शब्द जितना राष्ट्रीय स्तर का है उतना ही अंतराष्ट्रीय स्तर का भी है, और उतना ही वैश्विक स्तर का भी है। यह बात समझना प्रगतिशील लोगों के लिए संभव नहीं है, क्योंकि उनकी भी मान्यता, उनके पश्चिमी मानसपिताओं के समान संकेन्द्रिक (Concentric) पद्धति की ही है। वे यह कल्पना नहीं कर सकते कि हर एक पूर्ण विकसित सन्यासी भारतीय तो रहता है, किन्तु केवल भारतीय नहीं रहता। हमारी संकृति की अपेक्षा है कि हर एक व्यक्ति को चेतना का विकास स्वयं से उत्क्रमित होते हुए अनंतकोटि ब्रह्मांड का समावेश करने वाली हो, चेतना विकास-क्रम की अन्तिम अवस्थाओं में वह जगत का नागरिक (World citizen) और इसके आगे ब्रह्माड नागरिक (Citizen fo the Universe) बने।

किसी भी समूहगत अस्मिता का जो स्थान पश्चिमी दर्शन में हो सकता है वह हिन्दू वैश्विक दर्शन में नहीं हो सकता। किसी भी समूहगत संकल्पना का जो महत्व पश्चिमी मनोरचना में हो सकता है वह हिन्दू मनोरचना में नहीं हो सकता। इस कारण पश्चिम की किसी भी संस्था की तुलना (जिसमें "नेशन" भी है) इधर की किसी भी संस्था के साथ (जिसमें "राष्ट्र" भी है) करना अनुपयुक्त है। इसी प्रकार पश्चिम की किसी भी संकल्पना की तुलना

(जिसमें "नेशनलिज्म" भी है) इधर की किसी भी संकल्पना के साथ (जिसमें "राष्ट्रीयता" भी है) करना अनुचित है।

इस विषय में रूचि रखने वाले सभी प्रामाणिक विचारकों को अलविन टॉफलर का यह विचार ध्यान में रखना चाहिए कि ".... The right question is usually more kimportant that the right answer to the wrong question."

****

दर्शन का गहरा असर सामाजिक व्यवहार पर तो होता ही है, किन्तु दार्शनिक की मानसिकता पर भी होता है। उदाहरण के नाते विदेशों में भारत का प्रतिनिधित्व करने वाले एक दार्शनिक का निम्नलिखित स्वाभाविक व्यवहार देखिए।

५ अप्रैल, १९५२ को क्रेमिलिन में स्टालिन से बात करते समय डॉ० राधाकृष्णन ने स्टालिन के गाल थपथपाये और कहा : "अब तक आप युद्ध के महान नेता साबित हो चुके हैं। अब इसके बाद आप शांति के महान नेता साबित होंगे क्या? जैसे कलिंग विजय के पश्चात् अशोक शांति के नेता बने थे।" स्टालिन ने उत्तर दिया "मैं कुछ समय तक एक ईसाई मठ में था। चमत्कार तो हो ही सकते है।"

१८ दिसम्बर, १९५७ को डा. राधाकृष्णन ने पेकिंग में बातचीत के दौरान माओ झेडाग का गाल थपथपाया। वहां उपस्थित अन्य सज्जन हक्के-बक्के रह गए। राधाकृष्णन ने कहा- "घबराइये नहीं, मैंने स्टालिन और पोप के गाल भी थपथपाये हैं।"*

हिन्दूराष्ट्र-संकल्पना

हिन्दू राष्ट्र संकल्पना Revivalism है, हम यह नहीं चलने देंगे, प्राचीन परम्पराएं, मान्यताएं, आदि सभी से पूर्णरूपेण रिश्ता तोड़कर हम एकदम नए ढंग का समाज निर्माण करने जा रहे हैं, ऐसा दावा हमारे प्रगतिशील बन्धु कर रहे हैं। भूतकाल से नाता तोड़कर अभिनव समाज का निर्माण करने की घोषणा करते हैं।

यह बात सवर्था असंभव है। अब तक श्रेष्ठ क्रांतिकारी भी इस तरह का निर्माण नहीं कर सके। प्राचीन परम्पराओं में जो बातें युगानुकूल नहीं है उनका त्याग करना चाहिए, और युगधर्मानुकूल नई बातों को स्वीकार करना चाहिए, किन्तु इस प्रक्रिया में राष्ट्र के जीवनरस का सातत्य कायम रखने की सावधानी सदैव रखनी चाहिए, यह विचार श्री गुरुजी ने रखा है।

Explaining the process of Reconstruction flowing naturally from the spirit of identity, Shri M. S. Golwalkar, the Sarasanghchalak of the R.S.S. observes. “Once the life stream of unity begins to flow freely in all the veins of our body-politic, the various limbs of our national life will automatically begin to function actively and harmoniously for the walfare of the nation was a whole. Such a living and growing Society will preserve out of its multitude of old systems and pettern whatever is essential and conducive to its progressive march, throw off those wich have outlived their utility and evolve new systems in their place. No one need shed tears at the passing of the orders nor shirk to welcome the new order of things. That is the nature of all living and growing organism. As a tree grows, ripe leaves and dry twings fall of making way for fresh growth. The main thing to bear in mind is so see that the life-sap of oneness permeates all part of our social set-up. Every system or pattern will live or change or even entirely disappear according as it context to discuss about the future of all such systems. The supreme call of the times is to revive the spirit of inherent unity and the awareness of its life purpose in our society. All other things will take care of themselves.

भारत में सामाजिक सुधार का कार्य प्रारंभ करने वाले मनीषियों में न्यायमूर्ति महादेव गोविन्द रानडे का स्थान महत्वपूर्ण है। सन् १८२५ में पूना में सम्पन्न हुए नवम् अ. भा. सामाजिक परिषद का मार्गदर्शन करते समय उन्होंने समाज सुधार आन्दोलन के सभी प्रकारों का वर्णन किया तथा हर एक प्रकार के कारण होने वाले लाभ-हानि भी बताया।

इस दौरान अपरिनिर्दिष्ट अतिक्रांतिकारी दिखने वाले मार्ग का उल्लेख करते हुए रानडेजी ने उसकी अव्यावहारिकता निम्नलिखत शब्दों में बताई : - "To say that it is possible to build up a new fabric on new lines without any help from the past is to say that I am self-born and my father and grandfather need not have trobled themselves for me." दूसरी बात यह कि इस तरह की अभूतपूर्व क्रांति की बात तो दूर, सामान्य सत्ता परिवर्तन की राजनीतिक क्रांति भी वातानुकूलित बंगलों में बैठकर नये विश्व की रचना का आलेख घोषित करने वाले Arm-chair Revolutionaries नहीं कर सकते।

उनको हम इतना ही कहेंगे कि -

"शूरोऽसि कृतविद्योऽसि दर्शनीयोऽसि बालक।

यस्मिन् कुले त्वमुत्पन्नो गजस्तत्र न हन्यते ॥"

तीसरी बात यह कि यह प्रकृति के नियम में ही नहीं बैठता। समष्टि का उत्थान- पतन होता रहता है। किन्तु जैसे के तैसे Revival प्रकृति होने ही नहीं देती। मतलब यह कि - Revivalहो ही नहीं सकता। प्रकृति होने नहीं देती। Revolution हमारी बुद्धि के ठेकेदारों के बस की बात नहीं है। Renaissance हिन्दू प्रणाली है और हिन्दू राष्ट्र समर्थक यह निश्चित रूप से लाने वाले हैं।

श्री गुरुजी की हिन्दूराष्ट्र संकल्पना में Renaissance अन्तर्निहित है।

तृतीय विश्व

'State and Nation Building: A Third world persective'. की प्रस्तावना में श्री रजनी कोठारी कहते हैं कि 'As in many earlier epochs of change, there has existed a large hiatus between objective reality and political theory in the period since 1945.

सनातन सिद्धांत की सत्यता परिस्थिति निरपेक्ष हुआ करती है, किन्तु परिवर्तित बाह्य परिस्थिति के कारण जनमानस की धारणा में आने वाले परिवर्तन को ध्यान में रखकर उसी परिस्थिति निरपेक्ष सत्यसिद्धांत का विवरण परिस्थिति सापेक्ष ढंग से करना पड़ता

है। सत्य वही है, बाह्य परिस्थिति और उससे प्रभावित लोकमानस के अनुकूल विवरण की शैली में कुछ अन्तर आ जाता है।

We or our Nationhood Defined के लेखक को भी यह अनुभव आया। किन्तु उस तरह परिवर्तित अन्तर्बाह्य स्थिति की अनुभूति हमारे देश के नेताओं को नहीं हुई। पाश्चिमात्य विचारों को मानक (Standard) मानने की उनकी आदत के अनुसार वे सन् १९४५ के पश्चात् भी पाश्चिमात्य विचारकों से प्रभावित रहे। उन विचारकों ने तृतीय विश्व के सभी देशों को यह बताया कि राष्ट्र निर्माण तथा राज्यनिर्माण की पूर्वभावी शर्त (Pre-condition) उन देशों का आधुनिकीकरण है। यह हुआ तो स्वाभाविक रूप से राष्ट्रनिर्माण तथा राज्यनिर्माण होगा। आधुनिकीकरण के बिना यह सब हो ही नहीं सकता और आधुनिकीकरण याने पश्चिमीकरण। अत: पश्चिमीकरण का अविवेकी समर्थन करने वाले लोग प्रगतिशील और राष्ट्रहितेषी माने गए और उनका विवेक स्वीकार न करने वाले प्रतिगामी, दकियानूसी माने गए। श्री गुरुजी की गणना दूसरी श्रेणी में होने लगी। इस अवस्था में उनके राष्ट्र विषयक विचारों को भी प्रतिगामी तथा दकियानूसी घोषित किया जाना स्वाभाविक ही था। श्री गुरुजी इस विचार से सहमत नहीं थे कि राष्ट्र के निर्माण, या पुनर्निर्माण या पुन: गठन (National-Building) के लिए पश्चिम का अंधानुकरण तथा विवेक शून्य आधुनिकीकरण आवश्यक है। इस तरह का आधुनिकीकरण राष्ट्र के पुन: संगठन के लिए प्रतिकूल सिद्ध होगा, यह उनकी धारणा थी।

यहां ध्यान में रखने योग्य एक तथ्य प्रस्तुत करना अप्रासंगिक न होगा। एशिया की जागृति का नेतृत्व करने वाले नेताओं का कालानुक्रम से निम्न प्रकार क्रमांक मानने की प्रथा थी। राजा राममोहन राय, मेईजी मिकॅडो मुतसहिटो (Meji Mikado Mustsuhito), सैय्यद जमालुद्दीन (ईरान), डॉ० सनयात सेन (चीन) और मुस्तफा कमाल पाशा (तुर्कीस्तान) अफ्रीका में यह सम्माननीय स्थान श्री जगलूल पाशा का माना जाता है। ये सभी महापुरुष पश्चिम की भौतिक प्रगति का महत्व समझते थे, किन्तु तो भी उनके मन की जड़ें उनकी संस्कृति में गहराई तक उतरी हुई थी।

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् विश्व का नक्शा बदल गया किन्तु परिवर्तित जनमानस के प्रकाश में राष्ट्रीयता के प्रश्न का विचार तुरन्त नहीं हुआ। १४ अगस्त १९७० को फ्रांस के Cerisy-La-Salle में यूनेस्को के संयोजकत्व में राष्ट्रनिर्माण के प्रश्न पर विशेषज्ञों का जो

परिसंवाद हुआ वह इस दिशा में किया गया पहला प्रयास था। इस परिसंवाद में कई देशों के विषय में विद्वत्तापूर्ण शोध पत्र प्रस्तुत किए गए। कुल मिलकर तृतीय विश्व के देश, पूर्व अफ्रीका, जापान द्वारा प्रभावित पूर्व तथा दक्षिण पूर्व एशिया, स्पेन तथा उसका साम्राज्य, दक्षिण लॅटिन अमेरिका, निदरलैंड्स तथा स्विटजरलैंड, बाल्कन्स तथा दक्षिणी स्लाव क्षेत्र, भारत, लेटिन अमेरिका, पश्चिमी यूरोप (सन् १५०० से) के विषय में प्रबंध पड़े गए। उसके अलावा इस विषय पर भी चर्चा हुई कि राष्ट्र-निर्माण, राज्य-निर्माण के प्रश्न के अध्ययन की कार्यप्रणाली (Methodology) नई परिस्थिति के परिप्रेक्ष्य में किस तरह विकसित की जाए।

उस समय तक विश्व मानस को दक्षिण अमरिका के विषय में बहुत कम जानकारी थी। इस परिसंवाद में यह क्षेत्र पहली बार चर्चा का विषय बना था। गैर पश्चिमी विद्वान माइकेलेना (Michelena) ने संदेह व्यक्त किया कि इस विषय के अध्ययन की उत्तर अमरीका प्रणाली दक्षिण अमेरिका के तथ्य ढूंढने में कहां तक सफल रहेगी। ब्राजील में उपयोग में लाई गई अध्ययन प्रणाली का माइकेलेना ने विवरण दिया। एक अमेरिकन विद्वान जेरोम क्लब (Jarome Club) ने प्रतिपादन किया कि नवराष्ट्रों तथा उनकी राष्ट्रीयता का अध्ययन करते समय उसमें यूरोपियन जागतिक दृष्टिकोण थोपने की प्रवृत्ति बंद होनी चाहिए। "पश्चिमीकरण ही अब जागतिक संस्कृति बन चुका है" गेब्रियल आमंड (Gabriel Almond) के इस दावे पर श्री डी. एल. शेठ ने प्रतिप्रश्न किया कि सोलहवीं से अठारहवीं शताब्दी तक यूरोपीय सभ्यता की जो संस्थात्मक उपलब्धियां रही उनको ही भविष्यकाल में सदा के लिए आदर्श मान कर चलना है, या वर्तमान तथा भावी पीढ़ियों को सृजनात्मक चिंतन कार्य करने के लिए अवसर देना है। मेंडेज (Mendes) ने कहा कि अब तक की विचार शैली के कारण नये राष्ट्र सदा के लिए गतिरूद्ध हो जाएंगे या यह विचार शैली नवराष्ट्रों की दृष्टि से असंगत (Irrelevant) हो जाएगी। नव राष्ट्रनिर्माण के विषय में पश्चिमी नमूनों के प्रभाव में आने के कारण होने वाले दुष्परिणामों पर विचार-विशेषकर लेटिन अमेरिका, अफ्रीका तथा दक्षिण पूर्व एशिया के देशों की प्रतिक्रिया के रूप में कुछ राष्ट्र नेता, उभर कर आये, जैसे केस्ट्रो (क्यूबा), नासेर (अरब जगत), नेरेरे (कृष्ण अफ्रीका), माओ (चीन) और ओबोट (युगांडा)। इन सबकी छवि निर्माण का अन्वयार्थ भी बताया गया।

ब्राजालियन विद्वान ज्यूलियन स्टूअर्ट (Julian Stuart) तथा युआन लिंज ने (Juan Linz) ने जो स्पेनिश तथा पुर्तगाली भाषाओं तथा वास्तविकताओं के ज्ञाता है, ब्हेनेजुएला के जे. ए. सिल्वा माईकेलेना (J. A. Silva Michelena) आइसनस्टाट (Eisenstadt) और ब्राजील के कांडिडो मेंडेज (Condido Mendes) ने दक्षिण अमरिका के राष्ट्र तथा राज्यनिर्माण के विषय में मनोविश्लेषणात्मक विविध विचार प्रकट किए है। दक्षिण अमरिका में अधिकृत तथा मूलभूत संस्कृतियां क्या हैं? मूलनिवासियों को यूरोपीय आगन्तुकों के साथ एकात्म करने में कहां तक सफलता मिली है? प्रदेश- प्रदेश की सांस्कृतिक विरासत तथा सांस्कृतिक अस्मिता और वहां की अधिकृत शासन संस्था का ठीक मेल बैठता है क्या? पश्चिमी पद्धति में 'People elite, common civic culture,' Centre-periphery Theories,' National bourgeoisie, Middle calsses.'

आदि संज्ञाएं प्रचलित हैं। इस सब बातों का अस्तित्व दक्षिणी अमेरिका में है क्या? "आधुनिकरकरण" या "राजनीतिक विकास" का उपयोग दक्षिणी अमेरिका के देशों को विदेशावलम्बी बनाने में हुआ, यह आरोप सत्य है क्या? पाई, रास्टोव (Pye, Rustow) राष्ट्रीय अस्मिता की संकल्पना, सिल्वर्ट (Silvert) की सत्ता के बौद्धिकीकरण की कल्पना, कार्ल डेंश (Karl Dentsch) की सामाजिक अभिसरण की कल्पना, गेब्रियल आमंड (Gabriel Almond) तथा वर्बा (Verba) की राजनीतिक सहभाग की कल्पना, एस. एन. आइसनस्टाट (S.N. Eisenstadt) की राज्यकीय क्षमता के विकास की कल्पना और स्टीन रोकेन, बेंडिक्स, बेरिंगटन मूर (Stein Rokkan Bendix, Barrington Moore) की केन्द्र निर्माण तथा गठबंधन की कल्पना, ये सारी संकल्पनाएं विद्यमान दक्षिणी अमरिकी स्थिति में दूरान्वय से भी लागू होती है क्या? यूरोप में निर्माण काल में जननिष्ठाओं का केन्द्र विचार धाराएं तथा संकल्पित समाज रचनाएं रही। दक्षिण अमरिका में जहां-जहां जननिष्ठा दिखाई देती है वहां-वहां निष्ठाओं का केन्द्र यूरोप के समान है या राजनीतिक दल और नेता ही केन्द्र बने हैं? बहुत से विभागों में जननिष्ठाओं का अभाव ही है।

भारत के रामकृष्ण मुकर्जी तथा युगांडा के यश टण्डन ने पश्चिमी परिकल्पनाओं की गैर पश्चिमी देशों से सुसंगति (Relevence) के विषय में प्रश्न उपस्थित किया।

यूरोप में राष्ट्रों तथा राज्यों का निर्माण जिन परिस्थितियों में हुआ वे परिस्थितियां तृतीय विश्व में चल रही राष्ट्र निर्माण प्रक्रिया के समय आज उपलब्ध नहीं है, इस तथ्य को भी रेखांकित किया गया। यूरोपीय देशों के अनुभवों का उपयोग तृतीय विश्व के देशों के राष्ट्रनिर्माण में नहीं हो सकता, यह स्पष्ट किया गया।

कुछ शुभ संयोग, जिनके सामूहिक प्रभाव से यूरोपीय भौतिक प्रगति का सुप्रभाव हुआ, यह थे-वायुयान युग से पूर्व के युग में समुद्री मार्गो के भौगोलिक, राजनीतिक महत्व में हुई नयी वृद्धि, प्रचुर कच्ची सामग्री और विपणन की संभावनाओं वाले देशों पर शासन करने वाली शक्तियों को अपने देशों के विकास कार्यों में तन्मयता, नौ सैनिक शक्ति प्राप्त देशों के लिए साम्राज्य-निर्माण की परिस्थितियों का अनुकूल होना, उपनिवेशों के शोषण के आधार पर स्वदेशी अर्थव्यवस्थाओं का पोषण करने के व्यावहारिक अवसर उपलब्ध होना यह सभी परिस्थतियां तृतीय विश्व के देशों के लिए फिर से उत्पन्न नहीं होगी।

जैसे हेंस डाल्डर (Hans Daalder) ने स्पष्ट किया है कि यूरोप के विभिन्न देशों के इस विषय से संबंधित अनुभवों में भी विभिन्नता है। सबके अनुभव एक जैसे नहीं हैं, वैसे ही नवोदित राष्ट्रों के अनुभवों तथा लेटिन अमेरिकन और एशियार्ड देशों के अनुभवों में भी भिन्नता है। किन्तु राष्ट्रीयता प्राप्त करने की दृष्टि से, स्थूल दृष्टि से, पश्चिमी तथा गैर पश्चिमी देशों के ऐतिहासिक अनुभवों तथा वर्तमान संदर्भ में लाक्षणिक विरोध प्रकट होता है।

युगांडा के प्रतिनिधि ने कहा कि अफ्रीका में कार्यरत नवराष्ट्र निर्माताओं की दृष्टि से, यूरोपीय राष्ट्रनिर्माण का इतिहास तथा यूरोपीय संकल्पनाएं असंगत और अनुपयुक्त हैं। उनके सामने प्रमुख आह्वान है बहुगोत्रीय (Multi-tribal) समाजों में एकता का भाव कैसे निर्माण करना।

परिसंवाद में यह भी प्रश्न उपस्थित हुआ कि यूरोपीय तथा उत्तर अमरिकन अनुभवों में से निकले हुए विचारों के सहारे तृतीय विश्व के देशों की वास्तविकताओं का आकलन करना संभव है क्या?

पश्चिमी विचारक केन्द्र और परिधि (Centre and Periphery) की भाषा में विचार करते हैं। किन्तु केन्द्र की परिभाषा क्या है? उदाहरणार्थ कनाडा में (इंग्लिश बनाम फ्रेंच)

बेल्जियम में (बलून्स बनाम प्लेमिग्स), स्पेन में (केस्टीलियन्स बनाम अन्य) और कई दक्षिण अमेरिकन देशों में?

पश्चिमी विचारकों की परिभाषाओं, विश्लेषणों तथा भाष्यों में विश्व की सम्पूर्ण वास्तविकता का आंकलन करने की क्षमता है क्या? चर्चा में यह प्रश्न भी स्वाभाविक रूप से उभर कर आया।

उपरिनिर्दिष्ट बिन्दु परिसंवाद का वृत्त नहीं है, केवल झलक मात्र हैं; किन्तु उनमें विचार की दिशा का बोध होता है।

इस परिसंवाद के पश्चात् यूनेस्को के तत्वावधान में राष्ट्रनिर्माण विषय पर नवम्बर १९७१ में सिंगापुर में एशिया विभागीय परिसंवाद हुआ। संयोजक के नाते "दि सेन्टर फॉर दि स्टडी ऑफ डेवलपिंग सोसायटीज" दिल्ली ने काम किया। उसका वृत 'State and Nation building a Third world perspective में प्रकाशित किया गया। प्रथम (अगस्त १९७०) परिसंवाद का वृत 'Building states and Nations' में पाया जाता है।

इन संवादों की पृष्ठभूमि पर उनके एक संयोजक श्री रजनी कोठारी के इस संदर्भ में निकाले हुए निष्कर्ष वस्तुनिष्ठ तथा अनुभव पर आधारित हैं।

वे कहते हैं कि राष्ट्र-राज्य निर्माण की अनिवार्य शर्त आधुनिकीकरण है, ऐसा प्रतिपादन करने वाले पश्चिमी विचारक यह भूल जाते हैं कि यूरोप के कई बड़े भागों में राष्ट्रों का गठन तथा राज्यों का निर्माण तब हुआ जब यूरोप के विभिन्न समाजों का आधुनिकीकरण हुआ ही नहीं था। श्री कोठारी लिखते है " The post 1945 era of nation building in diverse historical contexts, based on a common struggle for political autonomy and human dignity encompassing vast regions of the world, represents a turning point in human history'

इस निर्माण-पुननिर्माण के कालखंड में अश्वेत नवस्वतंत्र देशों के नेताओं पर पश्चिमी विचारकों के आधुनिकीकरण के मंत्र का बहुत प्रभाव रहा। इसका तृतीय विश्व के राष्ट्र

चिंतन पर क्या असर पड़ा? "The spell of the theory of modernisaton has not permitted a realistic paradigm from emerging. To be sure, Concepts like,

nation building' and national integration' did emerge. but the thrust of these concepts was essentially machanistic, the 'nation' in the new regions was conceived as some kind of a contrivance, something put together, Something that may or may not hold together (hence the counting talk of Kakanisation), It was not seen as an organic being, with historical a nd cultural roots, ofter going back to centuries. Something that has since been underminded by Europe's colonising mission."

इसके परिणाम स्वरूप राजनेताओं ने अपना ध्यान आर्थिक पुर्नरचना और इसके माध्यम से 'परंपरायुक्त समाजों के आधुनिकीकरण,' पर केन्द्रित किया और "Scant attention has been paid to the typical political problems and policy issues involved in the building of new states and nation, the question of national autonomy and the factors that promote or undermine it.

इस अर्थ प्रधान आधुनिकीकरण का परिणाम क्या होता है? "Emphasis on economic development through the historicist model of industrial growth and urbanisation produces an elite (economic, bureaucratic, a nd technocratic) that is ultimately tied to the metropolitan areas of the wolrd and treats the vast rural hinderlands in its own country as colonies that provide gheap food ,raw materials, and supplies labour (and markets forinferior industrial products). It no doubt produces impressive increases in the national GNPS. (and hence also in the aggregate 'per capita income) without really benefiting anyone except a very small fragment of the large humanity handdled in the 'country side'.

आधुनिकीकरण के फलस्वरूप, कुछ अपवादों की छोड़ दें तो तृतीय विश्व के प्राय: सभी देश सच्ची स्वतंत्रता तथा स्वायत्ता से वंचिंत है। विशेष रूप से अफ्रीका, दक्षिण पूर्व एशिया तथा पश्चिमी एशिया के बड़े क्षेत्रों के बहुत से नवस्वतंत्र देश इस -श्रेणी में आते है। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् श्वेतवर्ण राजनेताओं ने संयुक्त राष्ट्र संघ के मंच से दुनिया

की नई रचना का एक लुभावना चित्र प्रस्तुत किया था। किन्तु आधुनिकीकरण के परिणाम स्वरूप निर्माण हो रही नई जागतिक रचना का स्वरूप किस तरह का है?

For a number of nation -states in the contemporary world the center lies somewhere outside the nation in the real metropoles of the world. The typical case,in larg parts of africa and latin america, and in parts of Asia,is one in which a tiny local elite, concentrated in the capital city of the country, pursues its interests in close alignementWith ametropolitan centre out side the country.The operative model that emerges is one in which the center, or super-centre is located in the territory of a dominant political power,the sub -centers located inthe national, with occassionally one or two additional sub centres located in some otherlarge sized cities, and then through a few inconsequential gradations,allthe rest is reduced to a vast periphery".

आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के कारण

“The result is an accent on ‘Central authority’ and an underming of the economic, political and cultural aspirations of vast masses of the people who are condemned to live on periphery. A variant of this with a widespread appeal is the accent on the divisiveness of underdeveloped countries, on the deep cleavages of religions, communal, or linguistic king, on casteism and triblism, and on the need to put this all down and create a ‘national identity’.

आधुनिकीकरण को प्रगतिशीलता का मापदंड मानने वालों को श्री कोठारी कहते हैं -

“Rather, it is the current theory of policy choices, and subversive of the values of autonomy and freedom in decision making.”

अपने विस्तृत अध्ययन का निष्कर्ष बताते हुए श्री कोठारी जी लिखते हैं :- “It follows, therefore, that for realistic theory of state building, it is necessary to divorce it from the theory of modernistion, as conceived so far.

The chief casualty of the whole approach to modernisation…is state and nation-building itself.”

To repeat once more the recurring point of this paper the need is to extricate the theory of state and Nation building from the theory of modernisaton.”

श्री कोठारी द्वारा संपादित 'State and Nation Building A Third World perspective' देशी-विदेशी विद्वानों के आलेखों का संकलन है। जोस ए. सिल्वा, माइकेलेना, जोजी वातानु की, पाल टी. के. लिन. नायन, एन रामुथारिया सेली. सूमरजन, मुखर्जी, सेठ) (Jose A Silva, Michelena, Joji Watanuki, paul T K Lin, Nathan, N. S hamuyariya, Selo Soimardjan, Mukherji, Sheth) आदि विद्वानों का उसमें योगदान है। कुल मिलाकर सभी लेख एक आवश्यकता की ओर संकेत देते हैं जिसे इस प्रकार अभिव्यक्त किया जा सकता है- "Need to question the validity of those (i.e. wastern) paradigms and to find ways of moving towards a new paradigm."

किन्तु इस तरह, पाश्चिमात्यों का अंधानुकरण न करते हुए स्वतंत्र बुद्धि से वास्तविकता का अध्ययन करने वाले विचारकों को भारत के राजनीतिक तथा बौद्धिक क्षेत्र में आज प्रतिगामी कालबाह्य तथा दकियानूसी कहा जाता है। उन लोगों को भारतीय वास्तविकता से सही दर्शन करा देने की दृष्टि में श्री गुरुजी ने "राष्ट्र" संकल्पना का यह विवेचन किया था।

दुर्भाग्य की बात यह है कि इस तरह विदेशों की बौद्धिक दासता स्वीकार करने वाले स्वयं को बुद्धिजीवी (Intellectual) कहते हैं, और उनका प्रतिपादन अपने निहित स्वार्थ के लिए पोषक रहेगा इस विश्वास के कारण राजनेता घोषित करते हैं कि देश की बुद्धिमत्ता के एकमात्र ठेकेदार ये ही बौद्धिक दास हैं।

यह सारी चर्चा किसी को भी गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर की इस सूक्ति का स्मरण दिलाएगा। "परानुकरण अपने अस्थिपंजर पर दूसरे की त्वचा चढ़ाने के समान है, जिसमें त्वचा और अस्थियों के बीच निरन्तर कलह होता रहेगा।

इसी संदर्भ में गुरुदेव ठाकुर अन्यत्र कहते हैं "भगवान ने हर एक देश के लिए अलग-अलग प्रश्नपत्रिका दी है, इस कारण दूसरे किसी देश की उत्तर पत्रिका की नकल करके कोई देश भगवान की परीक्षा में उत्तीर्ण नहीं हो सकता।

श्री गुरुजी का आग्रह

श्री गुरुजी सभी को "आत्मदीप" याने स्वतंत्रप्रज्ञ बनने का अग्रह करते थे। यह उनकी दृष्टि से उचित भी था। किन्तु यह संकलन पढ़ते समय यह जान लेना पाठकों के लिए उपयुक्त रहेगा कि इस विषय पर बोलने की दृष्टि से वे कहां तक अधिकारी पुरुष थे।

नवम्बर १९३९ में 'We or our Nationhood Defined' की पांडुलिपि पूरी हुई। उसके प्रकाशन के पश्चात् डाक्टर हेडगेवार जी की यह इच्छा थी कि तत्कालीन मध्यप्रदेश का प्रमुख समाचार पत्र नागपूर का "महाराष्ट्र" उसकी समीक्षा करे। "महाराष्ट्र" में यह कार्य श्री गजानन त्रयम्बक मांडखोलकर को करना था। श्री मांडखोलकर एक ख्यातनाम पत्रकार तथा साहित्यिक थे। वे संघ के विचारों से सहमत नहीं थे। वे वामपंथी तो नहीं थे, किन्तु वामपंथी विचारों को प्रगतिशील मानने वालों में थे।

दो महीने के बाद भी समीक्षा प्रकाशित नहीं हुई तो डॉक्टरजी ने मांडखोलकर जी को स्मरण दिलाया। मांडखोलकर ने कहा 'पुस्तक में प्रतिपादित विषय के संबंध में मेरे मन में कई प्रश्न और संदेह हैं। स्वयं लेखक महोदय के साथ खुली चर्चा करने का अवसर मिलता तो अच्छा होता।"

पूजनीय डाक्टर जी ने अपने निवास स्थान पर दोनों को साथ-साथ बिठाया। इस प्रसंग का वर्णन पूजनीय गुरुजी के महानिर्वाण के पश्चात् नागपूर "तरूण भारत" में स्वयं मांडखोलकर ने विस्तृत ढंग से किया है।

इस संदर्भ में दो उल्लेखनीय बातों का पता चलता है- "हिन्दू राष्ट्र" संकल्पना के विषय में मांडखोलकर जी ने श्रीगुरुजी से तरह-तरह के प्रश्न-प्रतिप्रश्न किये और अंत में डाक्टर जी को बताया कि इस विषय से संबंधित मेरे सभी प्रश्नों के संतोषजनक उत्तर मिले हैं और मेरी शंकाओं का समाधान हो गया है।

दूसरी बात इससे भी महत्वपूर्ण है। इस पूरे प्रसंग से मांडखोलकर जी के यह ध्यान में आया कि "हिन्दूराष्ट्र" की संकल्पना के विषय में पूजनीय डाक्टर साहब भी पूजनीय गुरुजी को अधिकारी पुरुष मानते हैं।

पाठकों की दृष्टि से यह दूसरी बात महत्वपूर्ण है।

"आत्मदीप" बनकर सत्यान्वेषण की साधना में रत साधकों की भी कुछ अनुभूतियां है।

भगवान बुद्ध के शब्दों में श्री गुरुजी का मार्गदर्शन है 'अप्प दीपो भव'

दशमेश श्री गुरुगोविन्द सिंह जी ने श्री गुरु ग्रंथसाहब को "आत्मदीप" माना।

तमिलनाडु के श्रद्धालु मानते हैं कि श्री तिरूकुरल तिरूवल्लुवर की वाङ्गमय मूर्ति है। श्री समर्थ रामदास ने कहा है कि "मेरे महाप्रयाण के पश्चात् यदि कोई मेरा दर्शन करने के लिए आतुर हो तो वह मेरे "दासबोध" का दर्शन करे। "दासबोध" का दर्शन अर्थात् मेरा दर्शन।" शायद सभी महापुरुषों का अपनी कृतियों के साथ इसी तरह का अविभाज्य संबंध हुआ करता है।

जिन पाठकों को श्री गुरुजी का प्रत्यक्ष दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ, इस संकलन का महत्व उनकी दृष्टि से दूसरे प्रकार का है।

— दत्त ठेंगडी